
886/H



लल द्यद

भास्कर के 'लल वाख' की शारदा लिपि की पांडुलिपि में से एक वाख की प्रतिच्छवि

लल द्यद

लेखक

जयालाल कौल

अनुवादक

शिबन कृष्ण रैणा



साहित्य अकादेमी

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन, ३५, फ़ीरोज़शाह रोड, नई दिल्ली-११०००१
रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, ब्लाक V-बी, कलकत्ता-७०००२९
१७२, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई-४०००१४
२९, एलडाम्स रोड (दूसरा तल्ला), तेनम्पेठ, मद्रास-६०००१८

मूल्य : १२ रुपये

प्रथम प्रकाशन १९८०

साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित तथा रूपाभ प्रिंटर्स, ४/११५, विश्वासनगर शाहदरा, दिल्ली-११००३२ द्वारा मुद्रित ।

अपने पिता की

स्मृति को

सर्मपित

विषय-सूची

आमुख

ललद्यद का पुनर्मूल्यांकन, इधर, बहुत दिनों से आवश्यक हो गया था। साहित्य-अकादेमी, दिल्ली का मैं आभारी हूं कि उसने मुझे इस पुस्तक में ललद्यद के जीवन और कृतित्व से सम्बंधित जनश्रुतियों, घटनाओं व अन्य सामग्री का पुनर्परीक्षण करने तथा इस कवयित्री के साहित्यिक-योगदान का पुर्निरधारण करने का सुअवसर प्रदान किया। यद्यपि यह कार्य मेरे लिए अतीव श्रमात्मक एवं समय-साध्य सिद्ध हुआ, तथापि इस बात का मुझे संतोष है कि इस पुनर्परीक्षण से ऐसे कई तथ्य सामने आये जिनसे कवयित्री के बारे में परंपरा से चली आ रही रूढ़ मान्यताओं व अभिमतों को संशोधित करने का मार्ग निकल आया। उदाहरणार्थ अनेक बार मुझे मूलपाठ की पुनर्व्याख्या करनी पड़ी और कई एक स्थानों पर तो पाठ का ही संशोधन करना पड़ा। सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन और एल० डी० बरनेट द्वारा अब तक इस विषय पर लिखित "लल्ल-वाक्यानि" जैसी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक भी इस अपवाद से बच नहीं सकी है।

अध्याय नं० १, २, ४ और ५ का अनुशीलन करने के लिए मैं प्रो० पी० एन० पुष्प का, अध्याय नं० २ और ३ को देखने-पढ़ने व त्रिक-शास्त्र से सम्बंधित ध्यातव्य बिन्दुओं को सुझाने के लिए डॉ० बलजिन्नाथ पंडित का तथा अध्याय १ और २ का संवीक्षण करने के लिए प्रो० मोही-उद्-दीन हाजिनी का, उनकी सहायता व सुझावों के लिए आभारी हूं। अनुसंधान-अधिकारी पं० श्रीकंठ कौल और मौलवी मुहम्मद इब्राहिम व श्री गुलाम रसूल, प्रधान-मौलवी डिपार्टमेण्ट ऑफ रिसर्च एंड पब्लिकेशन, श्रीनगर को भी धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने अपने पुस्तकालय की संस्कृत व फारसी पाण्डुलिपियों से विभिन्न सन्दर्भ ढूँढने में मेरी पर्याप्त सहायता की। अंत में, डॉ० पी० माचवे को धन्यवाद देना चाहूँगा जो मेरे साथ-साथ स्वयं भी सहिष्णुता का परिचय देकर इस पुस्तक को तैयार करवाने में मेरी प्रेरणा के स्रोत बने।

यह पुस्तक मैं अपने पिताश्री पं० लाल कौल (१८७५-१९५०) को, जो ललद्यद के शब्दों में एक गृहस्थ-संत के रूप में जिये, समर्पित करता हूँ—

केंह छिय गॅहि ब'ज़िथ ति अक्रयी
गृहस्थ होने पर भी
कुछ अक्रिय (निर्लिप्त) रहते हैं।

जे० एल० कौल

उच्चारण-तालिका

मूल कश्मीरी-पाठ नागरी में लिप्यंकित करने के लिए (प्रेस में उपलब्ध टाइप की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए) निम्न मात्रा-चिह्न प्रयोग में लाये गये हैं—

(१) ल'र (मकान), ग'र (घड़ी)
(२) ला'र (खीरा), दा'र (दाढ़ी)
(३) मँ (मुझे), शँ (छः)
(४) बु. (मैं), गु.थ (लहर)
(५) सो'न (गहरा), मो'ट (मोटा)
(६) रु.प (रूप), तू.र (सर्दी)
(७) सॉन (सोना), मॉण्ड (विधवा)
(८) च़ छ़ ज़

अध्याय एक

ललद्यद : जीवन और जनश्रुतियाँ

समसारस आयस तपसी
बो'द-प्रकाश लो'बुम सहज[1]

मैं तपस्विनी[2] इस संसार में आई
और बुद्धि प्रकाश से सहज (स्वात्म)
को पा लिया

इस जगती के पालने में, ईश्वर में एकात्म हुई वह ललारिफ़ा ही थी जिसे शनैः शनैः ब्रह्म-ज्ञान हो रहा था। वह उन (योगिनियों) में से एक थी जो अपने इष्ट-रूपी प्रियतम को प्राप्त करने के लिए मन में प्रेम की पीर लिये दर-दर डोलीं। इसके अतिरिक्त वह सत्य के मार्ग (हक्क़) की ज्ञाता भी थी। एकत्व (वहदत) के प्रवर्त्तक, तत्वज्ञान के पंडित तथा फकीरों के युग-पुरुष (परमात्मा उस पुण्यात्मा के रहस्यों को पवित्र रखे), शेख नासिर-उद्-दीन ने ललद्यद की प्रशंसा में लिखा है:—ब्रह्म-चिंतन के मनोरथ के सामने उसने अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया और उसके हृदय से धुएँ के बादल उठे। 'अहद-ए-अलस्त'[3] का घूंट पीकर आनंदोल्लास में वह उन्मत्त हुई। हरि-नाम का एक मादक-प्याला उसकी सुध-बुध को भुला गया। कारण, सैकड़ों कलशों की मदिरा से भी बढ़कर इसकी

---

१. सं० 'सहज'—जन्मजात, प्राकृतिक, सरल, मूल-प्रकृति, 'स्व' की प्रकृति, प्रकृत-सत्य। ललद्यद ने इस शब्द को परम-शिव के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है।

२. 'अ' 'तपस्विन्'—भक्त, योगी, साधक।
'आ' 'बौद'—इन्द्रिय-ज्ञान, चैतन्य-भाव, सहजानुभूति।

३. "अलस्तु बिरब्बिकुम कालूबला" ("क्या मैं तुम्हारा ईश्वर नहीं हूँ ?"—सृष्टि की उत्पत्ति के समय ईश्वर ने कहा था, सबने कहा था कि, अवश्य तू हमारा ईश्वर है। (कुराने-पाक, VII, १७२)

थोड़ी-सी खुमारी का नशा होता है।"

"हुसैन के इतिवृत्त 'तवारीखे-हुसैनी' में उल्लिखित है कि सुलतान अलाउद्दीन १३४५ ई० में गद्दी पर बैठा...मजनूँ-ए-आकिला[१] की शादी उसके बचपन में ही किसी व्यक्ति से कर दी गई और उसके परिवार वाले उसकी (असामान्य) दशा देखकर आश्चर्य करने लगे। उसकी वास्तविकता से अनभिज्ञ, उसका पति भी उससे हरदम क्रुद्ध रहने लगा। एक दिन जब वह सिर पर पानी का घड़ा लिये घर लौट रही थी, उसके पति ने लाठी से उस पर प्रहार किया। परिणामस्वरूप, घड़ा फूट गया किन्तु पानी उसके सिर पर ज्यों-का-त्यों जमा रहा। इस पानी से बाद में एक जलाशय बना जो अब सूख चुका है। इसे लल का जलाशय नाम से जाना है। इस प्रकार कई अन्य (दिव्य) घटनाओं का परिचय देकर वह उजाड़ों में, बीहड़ वनों में इधर-उधर डोलती-फिरती रही..."

उपर्युक्त पंक्तियाँ बाबा दाऊद मिशकाती के १६५४ ई० में लिखे ग्रन्थ 'अस्रार उल-अब्रार' (संतों के रहस्य) से हैं। ललद्यद के बारे में यह लिखित रूप में उपलब्ध होने वाला पहला दस्तावेज़ है। परन्तु जैसा कि नाम से ही पता चलता है यह इतिहास न होकर संतचरित मात्र है। संस्कृत के प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ भी ललद्यद के जीवन और कृतित्व पर कोई प्रकाश नहीं डालते। जोनराज (निधन १४५९ ई०), जो कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' के वर्णन को ११५०-५१ से आगे बढ़ाकर सुलतान ज़ैनुलाबदीन (१४२०-७०) के शासनकाल के मध्य तक ले गये, ने मुसलमानों के प्रधान धर्म-गुरु मला नूरूद्दीन (यवनानां परमं गुरुम्)[२] की चर्चा अवश्य की है किन्तु ललद्यद के बारे में उन्होंने कहीं कुछ भी नहीं कहा है। इसी प्रकार श्रीवर की 'ज़ैनराजतरंगिणी', जिसमें १४५९ से लेकर १४८६ तक का इतिवृत्त दर्ज है, प्राज्ञ भट्ट की' राजावली-पताका' जो अब विनष्ट हो चुकी है और जिसमें १४८६ से लेकर १५१३ तक का इतिहास आकलित था तथा प्राज्ञ भट्ट के ही शिष्य शुक के इतिहास, जो १५८६ तक फैला है, में ललद्यद के बारे में एक भी शब्द नहीं मिलता। और तो और १७४६ ई० तक फारसी में लिखे इतिहासों[३] में भी इस कवयित्री का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

ललद्यद की उक्त इतिहास-ग्रंथों में कोई चर्चा न होने का कारण यह हो सकता है कि चूंकि ये सभी इतिहास मुख्यतः राजाओं व राजनीतिक घटनाओं के परि-

---

१. शाब्दिक अर्थ—प्रेम में पागल, किन्तु मति व इन्द्रियाँ पूर्ण सजग व सप्रज्ञ। यहाँ अभिप्राय ललद्यद से है।

२. डी० आर० ए० जे० ६७३

३. तारीख-ए-रशीदी (१५४६), बहारिस्तान-ए-शाही (लेखक-अज्ञात, १६१४) और नवादिर-ए-अखबार (१७२३)।

चयात्मक संकलन-ग्रंथ रहे हैं, इसलिए उनका क्षेत्र व स्वरूप भी सीमित ही रहा। यों उन्हें आधुनिक मतानुसार इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यही कारण है कि कल्हण की 'राजतरंगिणी', जो अपने समय की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराने वाला एक अपूर्व दस्तावेज़ है, में न तो शैवमत के त्रिक्दर्शन के आविर्भाव का वर्णन है और न ही इस मत के धर्म-गुरुओं यथा अभिनवगुप्त आदि का ही उल्लेख है। वैसे, यह सभव है कि संस्कृत इतिहासकार ललद्यद को अपने ग्रंथों में स्थान न देना चाहते हों क्योंकि वह मान-प्रतिष्ठा सम्बंधी मर्यादाओं को तिलांजलि देकर अपने वस्त्रों व आचार-व्यवहार की चिंता किये बिना इधर-उधर फिरने लगी थी। वह कट्टर-पंथिता, विशेषकर परंपरावादिता, शास्त्रसम्मतता, आडम्बरवादिता व रूढ़िनिष्ठा की घोर विरोधिनी थी, जो संस्कृत आचार्यों को मान्य नहीं रहा होगा। वह तो 'अधिकार-भेद' सम्बंधी निषेधाज्ञा की चिंता किये बिना निरक्षरों की देशी (गंवारू) भाषा में ब्रह्म-ज्ञान के रहस्यों को जन-जन तक सुलभ कराने के प्रयत्न में दत्तचित्त रही। फिर जैसा कि प्रायः होता है, उसके वचनों को प्रचारित-प्रसारित होने व लोकप्रिय होने में काफ़ी समय लगा होगा और बहुत बाद में कवयित्री के अत्यधिक विख्यात हो जाने पर इतिहासकारों को उसे स्थान देना पड़ा होगा।

उक्त संभावनाएँ सही भी हो सकती हैं और ग़लत भी। कारण, हमारे पास ललद्यद विषयक कोई भी समसामयिक अथवा पुराना अभिलेख या इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है। ललद्यद की ओर पहली बार १८वीं शताब्दी के मध्य में इतिहासकारों का ध्यान गया जिसमें ख्वाज मुहम्मद द्यदमरी[1] प्रमुख हैं। वे लिखते हैं :

"सुलतान अलाउद्दीन[2] के शासनकाल में ललारिफ़ा नाम की एक उच्चकोटि की संत-कवयित्री (योगिनी) का प्रादुर्भाव हुआ। छोटी आयु में ही वह विवाह के बंधन—घर-गृहस्थी के बंधन—में बाँध दी गई। गृहस्थ-धर्म के पालन के साथ-साथ वह ब्रह्म-चिंतन में भी पूर्णतया निमग्न हो गई और बाद में विरक्त-विरागिनी होकर कुछ समय के लिए लोगों से दूर एकांत में रहने लगी...। सुलतान शहाबुद्दीन के राजत्वकाल में उसका निधन हुआ[3]।"

अब्दुलवहाब शायिक, जिन्होंने फारसी भाषा में कश्मीर का इतिहास लिखा है, ने ललद्यद का जन्मकाल अपने एक छंद में ७३५ हिजरी तदनुसार १३३४-३५ ई० दिया है : फजून बूद बर हफ्त सद सी व पंज"[4]। इसी प्रकार मुहम्मद असलम

१. वाकियात-ए-कश्मीर (१७४६ में लिखित)।
२. १३४४-५५
३. १३५५-७३
४. तारीख-ए-शायिक (सुखजीवन १७५४-६२ के काल में लिखित) सूफी द्वारा उद्धृत खण्ड II, पृ० ३८४

अबू-अल-कासिम[1] ने योगिनी[2] के रूप में ललद्यद का उल्लेख राजकुमार शहाबुद्दीन से सम्बंधित अपने एक उपाख्यान में किया है। बीरबल काचरू[3] के अनुसार अलौकिक और अव्यक्त सत्ता में विचरण करने वाली वह (ललद्यद) जाति से हिन्दू थी तथा सच्चे अर्थों में एक तपस्विनी, एक साध्वी तथा शुद्ध हृदय की एक सती नारी थी। वह पांपोर गाँव में रहती थी…।" पीर गुलाम हसन अपने इतिहास के तीसरे भाग में लिखते हैं :

"परम रहस्यवादी भक्त-योगिनी ललारिफ़ा एक प्रकार से द्वितीय राबिअः थी जो १३००-०१ ई० में प्रकाश में आई। ऐसा कहा जाता है कि यह साध्वी एक ब्राह्मण परिवार में सिमपोर गाँव में जन्मी थी। जीवन के प्रारंभिक-काल में वह असामान्य भावसमाधि(प्रहर्ष)में खोयी रही।…उसका विवाह पांपोर में हुआ…।"

हाजी मही-उद्-दीन मिस्कीन का इतिहास[4] तारीख-ए-हसन में लिखित तथ्यों का पुष्टीकरण यों करता है :

'वह (ललद्यद) कश्मीर के तीसरे मुसलमान-शासक अलाउद्दीन के राज्यकाल में ईसा की १४वीं शताब्दी के मध्य में पैदा हुई थी। उसके माता-पिता पांद्रेठन (प्राचीन नाम—पुराणाधिष्ठाना, कश्मीर की प्राचीन राजधानी) जो श्रीनगर के दक्षिण-पूर्व में चार मील की दूरी पर स्थित है, में रहते थे।"[5]

अन्य लेखकों ने, जिनमें अधिकांश अपेक्षाकृत आधुनिक हैं[6] उक्त इतिहासकारों द्वारा दी गई सूचनाओं को ही आधार बनाकर ललद्यद के जन्मकाल व जन्म-स्थान को निर्धारित करने का प्रयास किया है। अपनी ओर से निष्पक्ष रहकर सप्रमाण व अधिकारपूर्वक उन्होंने कुछ नहीं कहा है। हाँ, कवयित्री के जीवन के बारे में प्रचलित जन-श्रुतियों व अन्य घटनाओं को उन्होंने अपनी पुस्तकों में अवश्य समाविष्ट किया है।

ललद्यद के जन्मकाल व जन्म-स्थान के बारे में क्रमशः निम्न तीन व दो मत उभर कर आते हैं—जन्मकाल, ७०० हिजरी तदनुसार १३००-०१ ई०, ७३५ हिजरी तदनुसार १३३४-३५ ई० व ७४७ हिजरी तदनुसार १३४६-४७ ई०। जन्म-स्थान, सिमपोर (पांपोर के निकट) और पांद्रेठन। जन्म-स्थान के प्रश्न पर वशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह विषय अपेक्षाकृत उतना

---

१. गौहर-ए-आलम के लेखक।
२. अन्यत्र उल्लिखित।
३. मजमूअ-अल-तबारीख (१८३५-३६)।
४. तारीख-ए-हसन (१८३५)।
५. ए० के० पृष्ठ १२
६. मुहम्मद-उद्-दीन फ़ौक, अब्दुल अहद आज़ाद, पी० एन० के० बामजई, प्रेमनाथ बज़ाज़, जी० एम० डी० सूफी, ए० के० रहबर, डॉ० महीबुल हसन, डा० पारिमू आदि।

महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि कवयित्री के जन्मकाल के निर्धारण का है। यद्यपि उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्राय: यह असंभव है कि ललद्यद के जन्मकाल की गुत्थी पूर्णरूपेण सुलझाई जा सके, तथापि उसके जन्मकाल से सम्बंधित विभिन्न प्रकार की संभावनाओं को निर्धारित कर उन पर विचार करना अनुचित न होगा।

सर्वप्रथम हिजरी सन् ७४७ को लें। इसे एकदम अस्वीकार किया जा सकता है। सभी इतिहासकार इसी कालावधि के आसपास राजकुमार शिहाबुद्दीन और योगिनी की घटना के घटित होने का उल्लेख करते हैं। कुछ इतिहासकारों का योगिनी से अभिप्राय लल्ला से है और कुछ ने नाम का उल्लेख नहीं किया है।[1] ऐसा भी कहा जाता है कि इसी सन् के आसपास से ललद्यद 'पानी-के-घड़े'[2] वाली घटना को लेकर विख्यात हो गई थी और घर-गृहस्थी को तिलांजलि देकर सदा के लिए बहिर्जगत् में हो गई। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि फारसी के मुहावरे "ज़हूर-अशनमूद" का, जिसे इतिहासकार द्यदमरी ने प्रयुक्त किया है, विद्वानों द्वारा ग़लत अर्थ लगाने से कुछ भ्रम पैदा हो गया है। इस मुहावरे का एक अर्थ है—'प्रकाश में आना, अर्थात् उत्पन्न होना', दूसरा अर्थ है—'विकसित हुआ अर्थात् विख्यात हुआ।' द्यदमरी के इतिहास में इस मुहावरे के अर्थ और सन्दर्भ दोनों स्पष्ट हैं। वहाँ इसका अर्थ है—'प्रकाश में आना, अर्थात् विख्यात होना।' यदि इस सन् को उसके परित्याग (संन्यास-धारण) व 'पानी-के-घड़े' वाली चामत्कारिक घटना प्रस्तुत करने का समय मान लिया जाए, जैसा कि प्रत्येक इतिहासकार का कहना है, तो यह स्पष्ट है कि वह ७३५ हिजरी तदनुसार १३३४-३५ में पैदा नहीं हुई होगी क्योंकि संन्यास-धारण के समय, इस हिसाब से, उसकी आयु मात्र १२ वर्ष की बैठती है। इसके अतिरिक्त उस समय स्त्रियों का विवाह किस आयु में होता था इसकी कोई ठोस जानकारी उपलब्ध न होने के कारण यह मान लेना युक्ति-संगत होगा कि बाल-विवाह उस समय प्रचलित न रहे होंगे।[3] इस दृष्टि से लल्ला का विवाह भी १५ से १६ वर्ष की आयु से पहले न हुआ होगा। यह भी तर्कसंगत लगता है कि धर्म-कर्म और तितिक्षा से एक ब्राह्मणी होने के कारण अपनी सास की असह्य प्रताड़नाओं व यंत्रणाओं से दुःखी होकर अथवा अन्तर्जगत् की प्रेरणा से अभिभूत होकर ब्रह्म-चिंतन के निमित्त सदा के लिए घर-बार छोड़ने से पहले वह अपने पति के यहाँ पर कम-से-कम दस वर्षों तक अवश्य रही होगी। इन कारणों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ललद्यद का जन्म-

---

१. अन्यत्र देखिए।

२. अन्यत्र देखिए।

३. एस० सी० आर० पृष्ठ ११४ व पी० एन० के० बी० पृ० १८७

वर्ष १३१७ और १३२० के बीच रहा होगा। यह वर्ष इससे पहले का भी हो सकता है, मगर १३२० के बाद का नहीं। यदि हसन और मिस्कीन के इतिहासों को सही मान लिया जाए तो यह वर्ष १३००-०१ के आसपास का बैठता है और इसमें कोई आधार नहीं है कि उक्त दो इतिहासकारों की तुलना में शायिक के ही मत को ठीक समझा जाए। ललद्यद का जन्मवर्ष यदि १३०१ मान लिया जाता है तो उस हिसाब से उसका निधनकाल १३७२ ई० (द्यदमरी के अनुसार सुलतान शिहाबुद्दीन का काल) बैठता है। यदि उसका जन्म १३१७ और १३२० के बीच हुआ मान लिया जाए तो उस हिसाब से उसका निधन-काल १३८८ और १३९१ बीच बैठता है। इस गणना में हम यह मानकर चल रहे हैं कि उस समय ७०-७१ वर्ष की आयु अच्छी-खासी आयु होती होगी।

अन्य संतों की तरह ललद्यद का जीवन भी किंवदंतियों, चमत्कारों व जन-श्रुतियों के ऊहापोह से आवेष्ठित रहा है। टोर आंद्रे के शब्दों में—"संसार के श्रेष्ठ धार्मिक महापुरुषों को हमें उनके अनुयायियों की श्रद्धा द्वारा प्रतिष्ठापित स्वरूप में देखना चाहिए...। उनके व्यक्तित्व का जो नैसर्गिक अंश है और जिसे हम तर्क से समझ नहीं सकते, आस्था और श्रद्धा द्वारा आत्मसात् किया जा सकता है।"[१] संतों के साथ जुड़ी हुई जनश्रुतियाँ और चमत्कार न केवल संताख्यान-परंपरा को समृद्ध करते हैं अथवा इन पूतात्माओं के प्रति व्यक्त समाज के श्रद्धा-समादर-भाव की ओर इंगित करते हैं अपितु उनके नीति-वचनों को प्रभावपूर्ण व प्रसिद्ध बनाकर उन्हें अध्यात्मिक स्तर के विशिष्ट दृष्टान्तों में भी परिवर्तित कर देते हैं।

ललद्यद के जीवन के साथ जनश्रुतियाँ और चमत्कार उनके जन्म से ही जुड़े हुए मिलते हैं। पं० आनंद कौल (१८६८-१९४१) ने, जिनकी रुचि पुरातत्व से संबंधित विषयों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के बाद नये खोज-पूर्ण तथ्य प्रस्तुत करने की रही है, ललद्यद के जन्म के बारे में कुछ विचित्र प्रसंग (जनश्रुतियाँ) एकत्र किये हैं। उनके अनुसार अपने पूर्वजन्म में ललद्यद का विवाह पाँद्रेठन के एक व्यक्ति से हुआ था और उससे एक पुत्र भी हुआ था। प्रसूतिकाल के ग्यारहवें दिन 'काहनेथर' नामक अनुष्ठान के अवसर पर उसने अपने कुल-पुरोहित सिद्धश्रीकंठ से कहा—"बताइए तो जरा कि इस नवजात का मेरे साथ क्या संबंध है?" सिद्धश्रीकंठ ने उत्तर दिया—"यह तो तुम्हारा पुत्र है।" इस पर वह बोली—"नहीं, मैं शीघ्र ही प्राण त्यागने वाली हूँ और मारहोम गाँव में शरीर पर कुछ विशिष्ट चिह्न लेकर एक बछिया के रूप में पुनर्जन्म

१. टोर आंद्रे : 'मुहम्मद : द मैन एंड हिज़ फेथ' न्यूयार्क १९६० लूयिस व स्लेटर द्वारा' द स्टडी ऑफ रिलिजन' में उद्धृत।

लूँगी। यदि आपकी जिज्ञासा मेरे इस उत्तर की सचाई जानने की हो, तो एक वर्ष बाद आप मारहोम जाकर स्वयं इस बात की परीक्षा कर लें।" श्रीकंठ उस गाँव में गया और निर्दिष्ट चिह्नों वाली वह बछिया उसे मिल गई। पूछने पर वह बछिया उससे बोली कि वह शीघ्र ही प्राण त्यागने वाली है और छः मास बाद विजिब्रोर (बिजबिहाड़ा) गाँव में एक पिल्ले के रूप में वह एक बार फिर जन्म लेगी। अपनी बात का उत्तर अब पुरोहितजी को वही मिलेगा। कहते हैं उसी समय पास के जंगल में से सहसा एक चीता निकल आया और उसने उस बछिया की इह-लीला समाप्त कर डाली। श्रीकंठ की जिज्ञासा बढ़ गई और वह न केवल उसे पिल्ले के रूप में बिजिब्रोर गाँव में देखने के लिए गया अपितु ललद्यद द्वारा कही इसी प्रकार अमुक-अमुक स्थान पर अमुक-अमुक रूपों में जन्म लेने की बात की सत्यता की परीक्षा करने हेतु वह बराबर उसका अनुसरण करता रहा। अंततः सातवीं बार उसका पुनर्जन्म पाँद्रेठन में उसी परिवार में हुआ जहाँ प्रसूतिकाल के ग्यारहवें दिन उसने प्राण त्यागे थे। जब वह बारह वर्ष की हुई तो द्रगंबल महल (पांपोर) के निक्कभट्ट नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मण-परिवार के युवक से उसकी शादी की गई। तब पाणिग्रहण-संस्कार के दौरान नववधू बनी ललद्यद ने श्रीकंठ से धीरे-से कहा—"पिछले जन्म में जो लड़का मेरी कोख से पैदा हुआ था और जिसे तुम जानते हो, वही आज मेरा दूल्हा बना हुआ है।" श्रीकंठ को सारी बातें याद आ गयीं और वह आश्चर्य-चकित हो उठा।

संताख्यानों से संबंधित अन्तर्कथाओं का उद्गम अन्वेषित करना या उनकी सार्थकता को रेखांकित करना सरल कार्य नहीं है। ललद्यद जन्मवाद व पुनर्जन्म में विश्वास रखती थी और उसके वाखों (पद्यबद्ध उक्तियों) में उसकी स्वयं की ऐसी मान्यताओं के संदर्भ मिलते हैं जहाँ वह अनन्तकाल से चले आ रहे जीवन और जगत् की नश्वरता व पुनर्जन्म का स्मरण करती है :—

"सात बार मैंने सरोवर को महाशून्य में विलय होते देखा।" इस प्रकार की विलक्षणता दंतकथाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं कि उसे हिन्दुओं के पुनर्जन्म-सिद्धान्त में विश्वास था और पुनर्जजन्मों की घटनाओं और स्थितियों को योगबल के आधार पर स्मरण करने की उसमें उद्भुत क्षमता थी। ये अन्तर्कथाएँ ललद्यद की जन्म-मरण, संसार की नश्वरता, परब्रह्म की एकात्मकता, नानारूप भूतों में मूल अभेद की स्थिति आदि संबंधी मान्यताओं की भी व्याख्या करती हैं। एक वाख में नारी की महिमा के संबंध में वह कहती है :—

---

१. संस्कृत—'वाक्य'। कश्मीरी में 'वाख' एकवचन और बहुवचन दोनों के लिए व्यवहृत होता है।

माँ के रूप में स्तन-पान कराये,
भार्या के रूप में दांपत्य-प्रेम की पुष्टि करे।
माया के रूप में, अंत में, सब को हरे,
यह सब उसका नारी-रूप ही कहलाए।

ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है भक्तों की श्रद्धा-भावना से प्रेरित होकर जन-श्रुतियाँ संतों के जीवन के साथ जुड़कर पल्लवित होती रहती हैं। अतः उनके समाजशास्त्रीय पक्ष की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि वे अपने समय के सामाजिक और धार्मिक विश्वासों पर यथेष्ट प्रकाश डालती हैं।

प्रायः सभी जनश्रुतियाँ इस बात से सहमत हैं कि ललद्यद एक ब्राह्मण परिवार में जन्मी थी जहाँ बचपन से ही उसने न केवल धर्मपरायणता व अध्यात्मिकता के संस्कार ग्रहण किए अपितु सिद्ध श्रीकंठ अथवा सिद्धमोल (श्रद्धेय सिद्धबाबा) के सम्पर्क में आकर अध्यात्म-साधना के गूढ़ रहस्यों को भी आतमसात् कर लिया। हमें इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उस समय स्त्रियों के लिए भी उदार शिक्षा की व्यवस्था थी। उसके एक वाख से हमें पता चलता है कि उसकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता के घर पर हुई थी। इस बात पर भी मतैक्य है कि उसका विवाह पांपोर के एक ब्राह्मण-घराने में हुआ था जहाँ उसे सास की यंत्रणाओं का शिकार होना पड़ा। इस यातनापूर्ण व्यवहार का कारण प्रायः यह दिया जाता है कि उसकी सास उसके पति की सौतेली माँ थी। कश्मीर के ब्राह्मणों में प्रचलित प्रथानुसार विवाहोपरान्त नववधू को ससुराल में नया नाम दिया जाता है और लला को भी अपने पति के घर में पद्मावती नाम से अभिहित किया गया यद्यपि उसके मायके के परिचित संबंधी तथा इष्टजन अब भी उसे लला नाम से ही पुकारते थे। ससुराल में पद्मावती को छोटी-छोटी बातों पर उलाहनों, यंत्रणाओं, कटूक्तियों आदि को सहन करना पड़ता। चरखी पर वह सूत नहीं कातेगी (यद्यपि एक किंवदन्ती के अनुसार उसने कमल-नाल के तार की तरह बारीक सूत कात-कर दिखाया), इस लाडली को कोई भी काम करने का शऊर नहीं है, जाने माता-पिता ने उसे मायके में क्या सिखाया है... इस तरह के उपालम्भ और अपमान जनक बातें पद्मावती बिना कुछ कहे चुपचाप सहन करती जाती। संप्रति कश्मीर में कई ऐसी सूक्तियाँ / लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं जिनका स्रोत ललद्यद के जीवन की वाणी है। उदाहरणार्थ—'हौंड मांरितन किन कठ, ललि नीलवठ[१] चलि न जाँह" (घर में चाहे भेड़ कटे या बकरा, लला के भाग्य में तो पत्थर ही लिखे हैं) इस सूक्ति / लोकोक्ति के साथ एक कहानी जुड़ी हुई है जिससे ललद्यद की कठोर

१. गोलाकार पत्थर (ग्रियर्सन के कोश से उद्धृत)

तितिक्षा पर प्रकाश पड़ता है। कहते हैं उसकी निर्दयी सास ने उसे यंत्रणा देने के कई तरीके निकाले थे। जिनमें से एक यह था कि वह उसकी थाली में एक पत्थर रखकर उसके ऊपर दिखावे के लिए भात का लेप करती जिससे कि वह पत्थर छिप जाता तथा भात मात्रा में काफी दिखता। बेचारी ललद्यद उस थोड़े-से भात को ही खा लेती और बाद में चुपचाप उस पत्थर को धोकर रसोईघर में रख देती। एक तरह से यह उसकी नित्य-चर्या बन गई थी। एक दिन नित्य की तरह घड़ा लिए जब वह घाट पर पानी भरने जा रही थी तो उसकी सहेलियों ने उसे छेड़ा—आज तो 'ग्रहशान्ति' अनुष्ठान के उपलक्ष्य में तेरे घर में तरह-तरह के पकवान बने होंगे, तुझे तो आज पेट-भर स्वादिष्ट पदार्थ खाने को मिलेंगे। क्या हमें खाने पर नहीं बुलाओगी? अपने उत्तर में तब लला ने उपर्युक्त शब्द कहे। संयोग से ये शब्द उसके ससुर के कानों में पड़ गए और उसने सास द्वारा लला को खाना परोसते समय इस तथ्य की स्वयं जाँच की।

उक्त यंत्रणाओं के अलावा अन्य कई प्रकार के अनर्थकारी आरोपों से सास ने ललद्यद को कष्ट पहुँचाना चाहा। वह क्यों सदैव अन्र्मुखी रहती है, क्यों नहीं पड़ोस की अन्य समवयस्क वधुओं के साथ बतियाती है, क्यों हमेशा गुम-सुम रहती है? पानी भरने को घर से जल्दी निकल जाती है, मगर देर से लौटती है आदि···इसी प्रकार के कई आरोप उस पर आये दिन लगाये जाने लगे। यहाँ तक कि उसके आचरण और चरित्र पर भी लांछन लगाया गया। पति ने भी इस आरोप पर सहज विश्वास कर लिया क्योंकि दांपत्य-प्रेम के स्थान पर अपनी पत्नी के बढ़ते हुए विरक्ति के भाव से वह पहले से ही असंतुष्ट था। यहाँ पर कश्मीरी में प्रचलित एक अन्य लोकोक्ति को उद्धृत करना अनुचित न होगा जिसको गढ़ने का श्रेय ललद्यद को जाता है—

"न ज़ायस त न प्यायस
न खेयम हंद त न शोंठ।"[1]

(न गर्भिणी बनी, न प्रसूता और न प्रसूता का आहार ही किया।)

मगर शीघ्र ही यह तथ्य सामने आया कि सुबह-सवेरे पानी भरने के समय उस पर किसी से गुप्त मिलन आदि का जो आरोप लगाया जाता रहा, वह निराधार था। दरअसल, वह नित्यप्रति प्रभातवेला में पास की नदी से पानी भरने के लिए जाती और वहाँ एकान्त-स्थान पर बैठकर ब्रह्म-चिंतन में कुछ समय के लिए

१. इस सरल कथन में भी एक बेतुका अर्थ खोजने का प्रयास किया गया है। के० एस० पृ० ४५

तल्लीन हो जाती। एक किंवदन्ति के अनुसार वह नदी पार कर (पानी में पैर डुबोए विना !) ज़िन्यपोर गाँव के घाट पर बने नट-केशव-भैरव के मंदिर भी जातीं और वहाँ प्रभु-स्मरण में खो जातीं। एक बार नित्य की तरह प्रभु-स्मरण के बाद सर पर पानी का घड़ा लिंए वह अपने घर लौटीं तो सास द्वारा उकसाये जाने पर उसके पति ने आवेश में आकर ज़ोर से लाठी घड़े पर दे मारी। घड़ा फूटकर खंडित हो गया, मगर कहते हैं कि पानी ज्यों-का-त्यों उस देवी के सिर पर टिका रहा जिससे उसने रसोईघर के सभी वर्त्तन भरे तथा जो पानी बाकी बचा उसे बाहर फेंक दिया। बाद में उस स्थान पर एक जल-कुण्ड बन गया जो 'ललत्राग' (लल का कुण्ड) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फारसी के इतिहासकार पीर गुलाम हसन का कहना है कि १३०० हिजरी तदनुसार १९२५-२६ तक यह कुण्ड पानी से भरा हुआ था और बाद में इसका पानी सूख गया। पं० आनंद कौल का, जिन्होंने 'लल्लयोगेश्वरी' शीर्षक एक पुस्तक इस शती के तीसरे दशक के प्रारंभ में लिखी है, मत है—"यह कुण्ड अब भी मौजूद है और ललत्राग के नाम से जाना जाता है।" उनके कहने का अभिप्राय संभवतः यह है कि यद्यपि अब यह कुण्ड सूख चुका है तथापि उनके समय तक वह लल के कुण्ड से जाना जाता था और आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध है।

ऐसा लगता है कि उक्त घटना ने ललद्यद को काफी विख्यात बना दिया। उसकी चमत्कारिक व दिव्य घटनाओं के बारे में हर कोई परिचित हो गया और प्रसिद्धि इतनी बढ़ गई कि भक्तों की भीड़ उसके 'दर्शन' के लिए उमड़ने लगी। यही वह समय है जब उसने गृहत्याग किया और अपने शरीर व वेश की चिंता किये बिना मस्ती में डोलने लगी। एक वाख के अनुसार—

> "गुरु ने एक उपदेश दिया—
> वाहर से तू अन्दर जा,
> तभी से यह बात छू गई, और
> मैं विवस्त्रा[1] नाचने लगी।"

उक्त वाख के आधार पर ऐसा माना जाता है कि वह (ललद्यद) प्राचीन यहूदी संतों अथवा आजकल के दरवेशों[2] की तरह विवस्त्र (नंगी) होकर आनंदातिरेक में नाचती-गाती तथा इधर-उधर डोलती रहती थी। वह अर्द्ध-नग्नावस्था में घूमती थी यह मान लिया जा सकता है, मगर वह दरवेशों की तरह घूर्णन

१. के० एस० पृ० ५, छंद ५
२. एल० पी० पृ० ३

करती थी, यह ध्वनि कश्मीरी शब्द 'नचुन'[१] से नहीं निकलती है। विशेष संदर्भ में 'नचुन' का अर्थ 'नाचना' अवश्य है मगर अधिक व्यापक सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग 'निरुद्देश्य डोलने-फिरने' के अर्थ में होता है और प्रस्तुत वाख के सन्दर्भ में इस शब्द का दूसरा अर्थ ही समीचीन लगता है। बहिर्जगत् से ध्यान हटाकर अब वह अन्तर्जगत् को विशेष महत्त्व देने लगी। अतः नग्नावस्था में कहीं भी जाने में अब उसे संकोच नहीं होता। बाह्य आचार-मर्यादाओं से वह बहुत ऊपर उठ गई थी। मात्र नाचने से ही उसे अपने भीतर का मर्म दिखाई देता, ऐसा मान लेना उचित नहीं है। हाँ, ऐसा अवसर उसके जीवन में अवश्य आया होगा जब उस सर्वशक्तिमान् से आनंदातिरेक की प्रक्रिया में तादात्म्य के समय वह नाची होगी—"**मॅ चॅ त पानस च्युतुम छो'ह।**" मगर उस बात के लिए अभी काफी समय था। क्योंकि अभी तो गुरु के ये शब्द—"आत्मा को प्राप्त करने के लिए जगत् को छोड़" ही उसके लिए 'असह्य-क्षति' (रावन त्यौल) बने हुए थे। ऐसी स्थिति में शब्द का वह अर्थ ग्रहण करना जो ग्रियर्सन[२] ने भी (ग़लती से) किया है भाषा की सार्थकता के साथ अन्याय करना होगा। उक्त वाख के आधार पर कुछ लोगों का यह भी मानना है कि पांपोर की पद्मावती जो बाद में ललद्यद के नाम से विख्यात हुई, की तोंद (कश्मीरी में लल) विकसित होकर इतनी लटक गई थी कि उसकी गुप्त-इन्द्रियाँ उससे ढकी रहतीं। नामकरण के बारे में प्रस्तुत किये जाने वाले इस मत पर सहसा सहमत नहीं हुआ जा सकता कि 'लल' शब्द 'लिला' या 'लोल'[३] का विकृत रूप है क्योंकि भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से ये व्युत्पत्तियाँ त्रुटिपूर्ण हैं। ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल[४] में लला नाम काफी प्रचलित था और संभवतः ललद्यद का यह मायके का नाम रहा होगा। उसने अपने लिए इस शब्द का कई बार प्रयोग किया है, जैसे—"ललि नीलवठ चलि न ज़ाह"[५] (यहाँ पर अपने लिए कवयित्री ने 'ललि' [लल को] शब्द प्रयुक्त किया है) उस समय वह विचरण करने वाली एक साध्वी नहीं अपितु एक गृहिणी थी। इसके अतिरिक्त जब भी वह अपने बारे में कुछ कहती है तो वही एक नाम लल (या ललि, ल'ल—व्याकरण-सम्मत अन्य कश्मीरी-रूपों) का प्रयोग करती है और यह नाम १४० वाखों में २१ बार[६] व्यवहृत हुआ है, जिनमें १०९ वाख ग्रियर्सन व ७५ आनंद कौल द्वारा संकलित

१. मिलाइए हिन्दी 'नाचना'।

२. एल० वी० ४४ (७७ और ९४ से तुलनीय)।

३. ए० के० आर० पृ० १५०

४. राज० VI पृ० ७४

५. ललवाख का एक अंश।

६. एल० वी० नं० ३, ४८, ४९, ६८, ७६, ८२, ८३, ९४, १०२, १०३—ए० के० नं० १३, १५, ३०, ३१, ३२, ३३, ३५, ६३, ७३

हैं। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि मोटे तौर पर कश्मीरी में प्रायः 'लल' या 'लला' का उच्चारण बिना किसी ख़ास फर्क के एक-समान ही होता हैं।

जैसे-जैसे समय बीतता गया ललद्यद से जुड़ी हुई और भी कई तरह की किंवदंतियों, उपाख्यानों व अन्तर्कथाओं की संख्या बढ़ती गयी। यहां तक कि कुछ किंवदंतियाँ तो मात्र रूप बदलकर पुनः-पुनः प्रचारित-प्रसारित हुई। कहा जाता है कि एक बार गुरु सिद्ध श्रीकंठ प्रातःकाल के समय नदी पर स्नान कर रहे थे। उन्होंने देखा कि थोड़ी दूरी पर ललद्यद मिट्टी के एक बर्तन को बाहर से माँज रही थी। उन्होंने आपत्ति की—'भीतर से गंदे इस बर्तन को बाहर से माँजने में क्या लाभ?' लला ने तुरन्त जवाब दिया—'भीतर से मैली इस काया को बाहर से धोने में क्या लाभ?''

एक बार श्रीकंठ ने ४० दिनों का कठोर तप व आत्म-निग्रह वाला चान्द्रायण व्रत धारण किया। प्रभातवेला में लला उनसे मिलने चली आयी। जब उसे यह बताया गया कि गुरुजी समाधि में लीन हैं (सु छु करान ज़फ) तो ललद्यद ने चुटकी लेते हुए कहा—"अव नंदमरगी छिस दिवान गुरिस टफ" (हाँ, क्यों नहीं। नंदमरग के चरागाह में अपने घोड़े को लात खाते देख रहे होंगे।) ललद्यद के इस कथन को सुनकर श्रीकंठ की ग्लानि की सीमा न रही क्योंकि वास्तव में उनका चंचल मन उस समय अपने घोड़े में अटका हुआ था जिसे उन्होंने पास की घास-स्थली में चरने के लिए भेज रखा था और वहाँ कोई दूसरा घोड़ा उसे दुलत्तियाँ मार रहा था। तब कहते हैं ललद्यद ने उसे समझाया कि वास्तव में साधना/ध्यान कैसे किया जाता है। उसने मिट्टी का एक बर्तन अपने सिर पर दूसरा अपने पैरों के नीचे रखा और तब चन्द्रमा के घटने के साथ ही उसकी देह भी घटने लगी और १५ दिन के बाद अमावस्या की रात को उसका शरीर क्षीण होकर थिरकते हुए पारे की तरह डोलने लगा। तत्पश्चात् चन्द्रमा के वर्द्धन के साथ ही उसकी देह भी बढ़ने लगी और पूर्णिमा की रात को वह पुनः अपने वास्तविक रूप को प्राप्त हो गयी। तब गुरु ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा—बर्तन में पारे जैसा प्रकंपित हो रहा वह पदार्थ क्या था? लला ने उत्तर दिया—"दैहिक बन्धनों, इच्छाओं व इन्द्रियों की परवशता तथा मन-बुद्धि के प्रतिबंध से सर्वथा मुक्त हुई वह मैं ही थी। प्रकंपित इसलिए हो रही थी कि मुझे डर था कि कहीं मुझे अस्वीकार न किया जाए क्योंकि मात्र आत्म-दमन से मुक्ति नहीं मिलती। वह तो अंततः ईशकृपा से मिलती है।" इस बात को सुनकर श्रीकंठ ने स्वीकार किया कि उसकी शिष्या ने उसे (गुरु को) भी पीछे छोड़ दिया है—(गव चाठ गोरस ख'सिथ)। मुस्लिम इतिहासकार पीर गुलाम हसन तथा अन्य परवर्ती विद्वानों ने इस घटना को तनिक फेर-बदल के साथ प्रस्तुत किया है। ऐसा कहा जाता है कि ललद्यद ने ध्यान का उक्त कृत्य किसी मुसलमान भक्त को 'नफी-ओ-इसबात' की आध्यात्मिक-प्रक्रिया

समझाने के लिए प्रदर्शित किया था, जिसका मतलव है (ला इलाह) निषेध और अभिज्ञान/विधि (इल-लल-लाह) को भक्ति के बाह्य साधनों—भजन, कीर्तन, आदि की तुलना में प्राथमिकता देना।

इसी प्रकार एक बार पांपोर में एक खुली सभा आयोजित हुई जिसमें कई लोगों ने भाग लिया। ललद्यद का ससुर भी इस सभा में उपस्थित था। उसने देखा कि उसकी पुत्रवधू दर्शकों के बीच विवस्त्र खड़ी है। उसने उसे डाँटा और घर जाकर कपड़े पहनने का अनुरोध किया। ललद्यद ने यह कहकर विरोध किया कि वहाँ पर उसे कोई भी मनुष्य नहीं दिख रहा, सभी या तो भेड़ें हैं या वकरियाँ। यह कहकर उसने ससुर को खिड़की से देखने को कहा। ससुर ने जब खिड़की से नज़र दौड़ायी तो वह अवाक् रह गया। वहां पर वास्तव में केवल भेड़ें और बकरियाँ थीं। कहा भी गया है कि जो व्यक्ति मात्र भौतिक उपलब्धियों की पूर्ति में लिप्त रहता है वह या तो पशु है या काष्ठ का प्रखण्ड है या फिर पत्थर का पिण्ड।[१]

ललद्यद ने कर्मकाण्ड तथा अन्य प्रकार के धार्मिक कृत्यों व मूर्ति-पूजा आदि की आवश्यकता को नकार दिया था। उसने ऐसे व्यक्तियों की भर्त्सना की जो मात्र मूर्ति-पूजा, पशु बलि, तीर्थाटन, शास्त्र पाठ, व्रत पालन आदि को ही ईश-प्राप्ति के साधन मानते हैं और इन्हीं से संतुष्ट हैं। एक शैवयोगिनी द्वारा इस प्रकार की उद्घोषणाएँ धर्म-विपरीत या असामान्य नहीं मानी जा सकती क्योंकि त्रिक-दर्शन के आचार्य व आगम भी यही कहते हैं। प्रायः योगी बिना मंत्रोच्चारण व जल के ही दैनिक प्रार्थना (सन्ध्या) करता है, बिना हवन की अग्नि (होम) व माला फेरने (जाप) का ध्यान करता है, नित्य-कर्म का हवन भी बिना पुष्प व अन्य पूजा सामग्री के संपन्न करता है। माला फेरना या ईश्वर के नामों को जपकर उसके माहात्म्य का गुणगान करना आदि उपासना के निम्न-स्तरीय प्रकार हैं। इसी प्रकार पूजा के समय हवन की अग्नि (होम) को आहुतियाँ देना भी उपासना की अधम विधि है (जपस्तुतिः स्यादधमा होमपूजाधमाधमा)। अल्पज्ञों का समझना यह है कि ईश्वर मूर्तियों में या प्रतीकात्मक चित्रों में विराजते हैं और यही कारण है कि उनकी अल्पज्ञतावश व्रत, तप, तीर्थ, देवार्चनादि की महिमा घट जाती है। इस बात पर बल दिया गया है कि बिना हाथ-पैर वाले निराकार ईश्वर की, जो सच्चिदानंद व प्रकाश हैं, आराधना करनी चाहिए।[२]

धार्मिक आचारों व अन्य चर्य्याओं का निषेध ललद्यद के स्वयं के वाखों में

---

१. मालिनी विजय वार्त्तिका, अभिनवगुप्त।
२. कुलार्णव-तंत्र, उल्लास १, श्लोक ३४, ३६, ४५, ३३ व ५

यों मिलता है—

रे निर्बुद्धि ! सत्कर्म का वास
नहीं है व्रत में, और
नहीं धर्मानुष्ठानों में ।
अथवा
देव भी पत्थर, देवल भी पत्थर
ऊपर नीचे सब एक-समान
रे पंडित ! तू किसे पूजता
एकीकृत कर मन और प्राण ।
अथवा
भक्त-संन्यासी मंदिर-मंदिर डोले
उस परमेश्वर को पाने के लिए
उसे जो उसके भीतर है !

ललद्यद के नीति-वचनों को उसके अपने जीवन के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने के लिए कुछ किंवदंतियाँ उसके साथ अनायास ही जोड़ दी गयी हैं। एक दिन की बात है ललद्यद मंदिर में गयी, जहाँ उसके गुरु सिद्ध श्रीकंठ पूजादि में व्यस्त थे। उन्होंने उसे देख लिया और आने का कारण पूछा। ललद्यद ने उत्तर दिया कि वह मानसिक शांति व एकांत प्राप्त करने के लिए मंदिर में आयी है। सिद्ध श्रीकंठ उसे तुरन्त निकट के एक एकांत स्थान पर ले गए और वहीं पर प्रभु-स्मरण करने को कहा । ललद्यद ने उस स्थान पर थोड़ा-सा खोदकर कुछ देव-मूर्तियाँ निकालीं। इसी प्रकार दूसरे स्थानों से भी जब उसने ऐसी ही कुछ और देव-मूर्तियाँ निकालीं तो गुरु आश्चर्य-चकित रह गए। यह किंवदंति एक दूसरे रूप में भी प्रचलित है जिसके अनुसार उक्त घटना सिद्ध श्रीकंठ के घर पर उसके पूजा-गृह में घटित हुई थी और ललद्यद ने उन पवित्र मूर्तियों को विकृत भी कर दिया था।[1] किंवदंती का यह रूप मूर्तिपूजा-विरोधियों द्वारा बहुत बाद में प्रचारित किया गया लगता है क्योंकि एक ईश्वर-भक्त से ऐसे आचरण(मूर्तियों को विकृत करना) की आशा नहीं की जा सकती। इतिहासकार पीर गुलाम हसन का मत है कि उसका (ललद्यद का) उद्देश्य यह बताना था कि भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं। वह बोली थी—"मुझे ऐसा कोई स्थान दिखाओ जो ईश्वर का धाम (ख़ाना-ए-खुदा)

१. तारीख-ए-हसन, खण्ड ३, व बीबी ललारिफ़ा ।

न हो।" इस आधार पर किंवदंती का प्रथम रूप ही दूसरे की तुलना में अधिक सटीक लगता है।

लला को प्रायः आदर और श्रद्धावश ललद्यद या ललमोज (माँ लला) नामों से सम्बोधित किया जाता था। मगर कुछ शरारती बच्चे उसे छेड़ने या मज़ाक उड़ाने की गर्ज़ से ललम'च् (पगली लला) नाम से भी पुकारते थे। एक किंवदंती के अनुसार कपड़े की दुकान करने वाले एक दुकानदार ने एक बार इन शरारती बच्चों की एक ऐसी टोली को फटकार लगाकर भगा दिया। इस पर उस दुकानदार से ललद्यद ने कपड़े का एक लम्बा टुकड़ा माँगा जिसे दो बराबर भागों में काटकर उसने अपने कंधों पर डाला और चल दी। इसके पश्चात् श्रद्धालु व्यक्तियों ने जितनी बार उसको प्रणाम किया वह उतनी ही बार एक भाग में उतनी गाँठें लगाती गयी। उसका मज़ाक उड़ाने वालों ने जितनी बार फब्तियाँ कसीं, उतनी ही बार दूसरे भाग में गाँठें लगायीं। थोड़ी देर बाद वह पुनः उसी दुकानदार के पास गयी और उसे कहा कि वह कपड़े के इन दोनों भागों का वज़न करे। दोनों का वज़न गाँठों के कम या ज़्यादा होने पर भी बराबर निकला। तब ललद्यद ने मुस्कराकर कहा—

"चाहे कोई मुझे हज़ार गालियाँ भी दे
मैं मन में उसका बुरा न मानूँगी।"

आज भी कश्मीरी में एक लोकोक्ति प्रचलित है—'यिन मंदछोख न चन छुख मंदछान' जिसका अर्थ है आने (जन्म लेने) में शर्म नहीं आयी तो (माँ के स्तनों से) दूध पीने में शर्म क्यों? ऐसा कहा जाता है कि कश्मीर के मुस्लिम-ऋषि-संप्रदाय के प्रवर्तक संत नुंद ऋषि (बाद में शेख नूरुद्दीन वली नाम से विख्यात) का जब जन्म हुआ तो उन्होंने माँ के स्तनों का दूध नहीं पिया। तभी ललद्यद घूमते-फिरते वहाँ पहुँची और शिशु को पुचकारते हुए उक्त शब्द कहे, जिस पर, कहते हैं, शिशु ने स्तन-पान शुरू कर दिया। ऐसा भी माना जाता है कि ललद्यद और नुंद ऋषि अक्सर एक-दूसरे से मिला करते थे और आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा किया करते थे। जैसे—

(१) ललद्यद : सूर्य-प्रकाश के समान कोई प्रकाश नहीं
गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं
भाई के समान कोई परिजन नहीं
पत्नी के समान कोई सुख नहीं।

(२) नुंद ऋषि : नेत्र प्रकाश के समान कोई प्रकाश नहीं
घुटनों[1] के समान कोई तीर्थ नहीं
जेव के समान कोई परिजन नहीं
गर्म कम्बल के समान कोई सुख नहीं।

(३) ललद्यद : ब्रह्मज्ञान के समान कोई प्रकाश नहीं
भगवद्रति के समान कोई तीर्थ नहीं
प्रभु के समान कोई परिजन नहीं
ईश्वर-भय के समान कोई सुख नहीं।

उक्त वार्तालाप किन परिस्थितियों में हुआ, इसके बारे में अलग-अलग मान्यताएँ हैं। अपनी पत्नी की बढ़ती हुई विरक्ति को देखकर एक बार ललद्यद के पति ने सिद्धमोल से विनती की कि वे ललद्यद को वापस घर चलने के लिए राजी कर लें। कहते हैं कि सिद्धमोल स्वयं ललद्यद के पास गये और वहाँ पर सर्वप्रथम ललद्यद के पति ने उक्त वार्तालाप प्रारम्भ किया तथा सिद्ध श्रीकंठ ने दूसरा और ललद्यद ने तीसरा संवाद कहा। कुछ विद्वानों का मत है कि नुंदऋषि के प्रधान शिष्य बाबा नसर-उद्दीन भी इन अध्यात्मिक चर्चाओं में भाग लिया करते थे और उक्त वार्तालाप में प्रारम्भ का संवाद उन्होंने ही कहा, दूसरा नुंदऋषि ने और तीसरा ललद्यद ने। वैसे अधिक समीचीन यह लगता है कि वार्तालाप का प्रारम्भ पति ने ही यह कहकर किया होगा कि पत्नी के समान कोई सुख नहीं।

पं० आनंद कौल के मतानुसार कभी-कभी मीर सैयद अली हमदानी, ललद्यद और नुंदऋषि तीनों अध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करने के निमित्त एकत्र होते। श्री कौल ने ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनमें पता चलता है कि वे तीनों आंख-मिचौनी का खेल खेलते, बादल बरसेंगे कि नहीं इस बारे में भविष्यवाणियाँ करते, अपनी दिव्य एवं रहस्यपूर्ण शक्तियों का प्रदर्शन करते आदि। इस सब से ललद्यद को बड़ा लाभ हुआ।[2] कुछ लोग जो मुख्यतः शाह हमदान के कुबरवी संप्रदाय के अनुयायी हैं यह मानते हैं कि ललारिफ़ा शाह हमदान के संग अध्यात्मिक साधना के 'चार चरणों' से गुज़र कर परमधाम 'अर्श-ए-माजिद' तक पहुँची थी।[3] बहरहाल इन किंवदंतियों पर सहज विश्वास नहीं किया जा सकता। शाह हमदान पहली

१. घुटनों से तात्पर्य यहाँ स्वालम्बन से है।
२. ए० के० पृ० ३१-३२।
३. चार आलम—नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत, आर० पी० एल-२५५

बार १३७२-७३ में कश्मीर आया और आकर कौल व अन्य विद्वानों[1] के मतानुसार उस समय तक नुंदऋषि का जन्म नहीं हुआ था। दूसरी बार वह १३७९ में कश्मीर आया और लगभग २ वर्षों तक रहा। तीसरी और अंतिम बार १३८३ में वह थोड़े समय के लिए आया। नुंदऋषि (जन्म १३७७ ई०) तब मात्र एक शिशु रहा होगा, युवक नहीं, जैसा कि स्वर्गीय अब्दुल अहद आज़ाद ने कहा है।[2]

उक्त तथ्यों के होते हुए भी ललद्यद और शाह हमदान की मुलाकात को लेकर एक जनश्रुति कश्मीर में बराबर चली आ रही है जिसने अब एक लोकोक्ति का रूप धारण कर लिया है—'आई थी पंसारी के पास और चली गई नानबाई के पास'। कहा जाता है कि एक बार जब ललद्यद श्रीनगर के दक्षिण में दस मील की दूरी पर स्थित खामपोर गाँव (जो शोपियान जाने वाले मुख्य मार्ग पर बसा हुआ है) में थी तो उसे सामने से पीर सैयद अली हमदानी आते हुए दिखाई दिए। अपनी देह को आवृत्त करने के प्रयास में वह दौड़ती-चिल्लाती हुई कि आज मुझे असली पुरुष के दर्शन हो रहे हैं एक पंसारी के पास गई और तन ढकने के लिए वस्त्र माँगे। पंसारी द्वारा इन्कार किए जाने पर वह पास में ही नानबाई के जलते तंदूर में कूद गई। ठिठककर नानाबाई ने तंदूर को ढांक दिया और अचेत हो गया। तत्पश्चात् ललद्यद कुछ ही क्षणों बाद दिव्य और स्वर्णिम वस्त्रों को धारण कर सैयद से निःसंकोच मिलने के लिए तंदूर से बाहर निकली। इस घटना का दूसरा रूप यों मिलता है:—जब सैयद अली हमदानी नानबाई की दुकान के पास पहुँचे तो उन्होंने नानबाई से तंदूर का ढक्कन खोलने को कहा और ललद्यद को आवाज़ दी, जिस पर वह हरे रंग के दिव्य वस्त्र धारण किये बाहर आ गई और दोनों अध्यात्मिक साधना के चार चरणों की यात्रा करते हुए परमधाम पहुँच गये[3]। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि ललद्यद द्वारा उक्त चमत्कारिक अग्नि-परीक्षा देने का मतलब सैयद हमदानी को यह बताना था कि मध्य-एशिया के निरंकुश शासक तैमूर द्वारा सैयदों के लिए उनकी पवित्रता और अध्यात्मिक उपलब्धियों को प्रमाणित करने हेतु निर्दिष्ट परीक्षा—लोहे के बने रक्त-तप्त घोड़ों पर या तो वे चढ़कर दिखाएँ या फिर मृत्यु को वरण करें—उतनी कठिन नहीं थी जितना कि वे (सैयद-संत) समझते थे और जिसकी वजह से वे अपना देश छोड़कर अन्यत्र भाग रहे थे।[4] यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि पीर सैयद अली हमदानी जिन्हें

---

१. 'ए लाइफ ऑफ नुंद ऋषि' (१९०३) 'इण्डियन एंटीक्वेरी' खण्ड ५८, ५९ से पुनर्मुद्रित। अन्य विद्वान्—मिस्कीन, द्यदमरी व हाजिनी।

२. ए० ए० ए० II १५६

३. पूर्वोक्त।

४. ए० के० पृ० २८-२९

कश्मीर में शाह हमदान के नाम से अधिक जाना जाता है, १३७२ में पहली बार ७०० सैयद-मुरीदों को साथ लेकर तैमूर के आतंक से पीड़ित होकर कश्मीर में दाखिल हुआ।

यों, उपर्युक्त किवंदन्ती की तंदूर वाली घटना या ललद्यद-शाह हमदान की भेंट वाली घटना का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। फारसी के प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों[1] में यद्यपि अन्य घटनाओं का वर्णन है मगर उक्त भेंट का किसी में भी उल्लेख नहीं मिलता। 'वाकियाते कश्मीर' में तो ख्वाजा मुहम्मद आज़म द्यदमरी ने स्पष्टयता उल्लेख किया है—दिव्यता के पुंज परम-पूज्य-पाद महात्मा सैयद अली हमदानी से, जिन्हें दूसरा अली माना जाता है, उनके प्रवास के दौरान, जब वे धर्म-प्रचार में अपने चरम-शिखिर पर थे, ललद्यद मिली थी, यह बात शोधार्थियों द्वारा प्रमाणित नहीं की गई है(''नज़्द-एअरबाब-ए तहक़ीक साबित न शुद'')सबसे पहले उक्त घटना का उल्लेख १९वीं शताब्दी में बीरबल काचरू ने अपनी ''मज्मूअल तवारीख'' (१८३६) में किया है। इसके बाद दूसरे इतिहासकार पीर गुलाम हसन ने, जिसने अपने इतिहास ''तारीख-ए-हसन'' में कश्मीर के संतों और पीरों के बारे में विस्तार से लिखा है, सैयद-जलाल-उद्दीन बुखारी और सैयद हुसैन समनानी से ललद्यद की भेंट का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु सैयद अली हमदानी से हुई मुलाकात का उसमें कोई हवाला नहीं मिलता है। इस प्रकार इन इतिहासों में उल्लिखित उक्त घटना से सम्बंधित जो प्रकारांतर मिलते हैं उन्हें प्रामाणिक ठहराया नहीं जा सकता क्योंकि इनमें इतिहासकारों ने प्रायः बिना खोज के वही उद्धृत किया है जो उन्हें अन्य ग्रन्थों या स्रोतों से प्राप्त हुआ।

उक्त किवदन्ती का उद्भव संभवतः 'अस्रार-उल-अब्रार में वर्णित उस घटना से हुआ है जिसमें यह स्पष्टयता प्रमाणित करने की कोशिश की गई है कि ललद्यद की शाह हमदान से भेंट नहीं हुई थी और इसी बात को बाद में इतिहासकारों ने उद्धृत किया। अस्रार-उल-अब्रार में यह घटना यों वर्णित है :

''एक बार वह सड़क-किनारे नग्नावस्था में बैठी हुई थी। उसके सामने से कई लोग गुज़रे, मगर उसने उनकी ज़रा भी चिंता नहीं की। तब उन लोगों में से एक व्यक्ति उसके काफी निकट आया। उसके निकट आ जाने पर ललद्यद ने एकदम अपने अंगों को आवृत्त करने का प्रयास किया और इस प्रक्रिया में घुटने अपने पेट तक ले गई। जब आगँतुक ने यह देखा तो उसने चुटकी ली—''ब्रह्म-चिंतन में तल्लीन, हे देवि ! तुमने अपनी देह की यह क्या हालत बना रखी है ? तुम्हें नहीं मालूम कि तुम नंगी हो और अनेक जन तुम्हारे सामने से गुजर रहे

---

१. 'बहारिस्तान-ए-शाही' (१६१४), 'तारीख-ए-कश्मीर' (१६१७-१८), 'अस्रार-उल-अब्रार' (१६५४), मुंतखिब-उल-तवारीख' (१७१०)।

हैं ! मेरे आने पर तुमने भला अपने अंगों को तुरन्त आवृत्त क्यों किया ?" ललद्यद ने उत्तर दिया—'हे खुदा-दोस्त ! अब तक मेरे सामने से केवल औरतें गुजरती रहीं, उनमें से कोई भी पुरुष अथवा आँख वाला नहीं था। फिर ऐसों से अपनी इस धूल में सनी, मैली-कुचैली बिखरे बालों वाली देह को छिपाने में क्या लाभ ? आप मुझे एक वास्तविक यथार्थ पुरुष तथा तत्वज्ञानी दीख पड़े। अतः अपनी देह को आवृत्त करना पड़ा।"[1] इस जनश्रुति में शाह हमदान के लिए "उन लोगों में से एक व्यक्ति" (जो किसी महापुरुष के लिए प्रयुक्त कथन के अनुकूल नहीं लगता) का निर्देश मिलता है। लगता है यही वह घटना है जिसे अतिरंजित रूप में नानबाई की तंदूर वाली घटना के साथ जोड़ दिया गया है।

ऐसा कहा जाता है कि ललद्यद ने कुछ भविष्यवाणियाँ भी की थी। उसकी एक भविष्यवाणी की, जिसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है, सम्यक् परीक्षा अपेक्षित है। फारसी के कई इतिहासों में इसका उल्लेख है। कहा जाता है कि सुलतान अलाउद्दीन के ज्येष्ठ-पुत्र व राज्य के उत्तराधिकारी शहाबुद्दीन अपने साथियों मलिक ज़िदार, आदर्श रावल और अख्ताजी के संग शिकार खेलने गए हुये थे। वहाँ उन्हें बहुत प्यास लगी। तभी सामने के पहाड़ी दर्रे से हाथ में शरबत का प्याला लिए ललारिफ़ा प्रकट हो गई। उसने वह प्याला राजकुमार को पेश किया। राजकुमार ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और थोड़ा-सा शरबत पी लिया और बाकी अपने साथी आदर्श रावल को पेश किया जिसने बाद में उसे मलिक ज़िदार को सम्भलाया। मगर तीसरे साथी तक पहुँचते-पहुँचते प्याले में कुछ भी नहीं बचा। तब ललारिफ़ा ने यह भविष्यवाणी की—राजकुमार शीघ्र ही एक प्रसिद्ध राजा बनेगा, आदर्श उसका मुख्यमंत्री होगा और मलिक प्रधान-सेनापति। मगर तीसरा साथी उन सब के घर पहुँचने से पहले ही मर जाएगा। यह भविष्यवाणी सच निकल गई। जोनराज की द्वितीय 'राजतरंगिणी' में मात्र यही एक ऐसी घटना है जो तनिक फेर-बदल के साथ उद्धृत की गई है। जोनराज के अनुसार—'उस समय योगिनी ने उस राजकुमार को पहचान लिया और आशीर्वाद स्वरूप मदिरा (शीधुचषकम्) का प्याला मंत्रोच्चारण के साथ भेंट किया।'[2] जोनराज ने अपने कथन में लला का नामोल्लेख नहीं किया है और इसी तरह "बहारिस्तान-ए-शाही" (१६१४ ई०) के अज्ञात लेखक और "तारीख-ए कश्मीर" (१६१७-१८) के लेखक मलिक हैदर तथा "नवादिदे अखबार" (१७२३) के रचयिता रफिया-उल-द्दीन ग़ाफिल आदि ने भी लला का नामोल्लेख नहीं किया है। लला के नाम का उल्लेख पहली बार मिश्काती रचित "अस्रार-

१. आर० पी० एल० (३२०-२२)
२. डी० आर० ए० जी ३४८

उल-अन्नार" में मिलता है और बाद के अधिकांश इतिहासकारों ने मिशकाती का ही अनुसरण किया है। यह बात द्रष्टव्य है कि संस्कृत शब्द शीधु (मदिरा) फारसी इतिहास-वृत्तों में शरबत या शीर (दूध)[1] बन गया क्योंकि मुस्लिम संताख्यान-कारों व इतिहासकारों ने अपनी रुचि व परंपरा के अनुसार इस शब्द को परि-वर्तित रूप में ग्रहण किया। चूँकि इन इतिहासकारों के समय ललद्यद—उस समय की एकमात्र प्रतिष्ठित योगिनी—जीवित थी, अतः उक्त भविष्यवाणी को उसके साथ सहज ही जोड़ दिया गया होगा, यह संभव है। लगता है वे शाक्त-योगिनियों की रहस्यमय शक्तियों से ही परिचित थे। वे यह भी नहीं जानते थे कि योगिनियों की साधना में मदिरा का पूजा-सामग्री के रूप में प्रयोग होता है। वैसे, यह विचारणीय है कि ललद्यद रहस्यमय शक्तियों की सिद्धि व चमत्कार-प्रदर्शन के पक्ष में नहीं थी। इन्हें वह कपट-ज्ञान (कपट-चरिथ)अथवा इन्द्रजाल समझती थी।

ललद्यद की दिव्य-घटनाओं से सम्बन्धित और भी अनेक किंवदन्तियाँ मिलती हैं जो बहुत बाद की यानी १९वीं और २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की हैं। अतः उन पर यहाँ हम विचार नहीं करेंगे। हाँ, इन सबसे एक बात स्पष्ट होती है और वह यह कि ललद्यद को आध्यात्मिक-प्रबोधन सैयद हुसैन समनानी से प्राप्त हुआ और उन्हीं के सम्पर्क में आकर उसने इस्लाम-धर्म को ग्रहण किया। लाहौर से प्रकाशित 'बीबी ललारिफ़ा'[2] में उल्लिखित है—

"सम्भवतः १३४७ ई० में सैयद जलाल-उद्-दीन बुखारी ने कश्मीर की यात्रा की थी। उस समय ललारिफ़ा को एक योग्य व ख़िज्र-समान मार्ग-दर्शक (आदर्श गुरु) की आवश्यकता थी जो उसे परम-प्रिय के धाम तक पहुँचा पाता। जव उसने उनके (सैयद बुखारी के)आगमन का समाचार सुना तो कपड़े पहनकर तुरन्त उनसे मिलने को नंगे पाँव ही चल दी। वह उनसे हीरापुर में मिली। ललारिफ़ा ने स्वयं इसके बारे में अपने एक वाख में यों कहा है—'उनके पवित्र पैरों में (नोलैन) जूते थे जिनका सात बार मैंने नमन किया और इनकी धूल को सुरमे की तरह अपनी आँखों में डाला। उन्होंने कृपा-वत्सलतापूर्वक मेरे सिर को ऊपर उठाया और मुझे अपने पास बिठाया। तब मैं उनके साथ चल दी। उन्होंने अपने हाथों से खाना बनाया और मुझे भी खाने को दिया। इसके बाद वे मुझसे बोले—'ललारिफ़ा, अब हम तुजर की ओर प्रस्थान करते हैं जहाँ अमुक तारीख को मख़दूम शेख़ हम्ज़ जन्म लेंगे जो इस संसार के प्रियतम (महबूब-उल-आलम) कहलाएंगे।' कथा आगे यों चलती है—'तुजर से लौटने के बाद उन्होंने उसे

१. मलिक हैदर।
२. आर० पी० एल० २५५

'कोह-ए-मारान'[1] पर साधना की शिक्षा (तल्कीन-मुरक़बा) दी और उसे कहा—'तुम्हारी व्यग्रता और चिंता जल्दी ही समाप्त हो जाएगी। तुम्हारे निर्देशक और गुरु (रहनुमा, मुरशिद) हज़रत सैयद समनानी शीघ्र ही कश्मीर आ रहे हैं। वही अपनी दिव्य और आध्यात्मिक शक्ति से तुम्हें साधना के चरम-शिखर तक पहुँचाएँगे।' "सैयद हुसैन समनानी १३७१-७२ में सुलतान शिहाबुद्दीन के राजत्व-काल में कश्मीर आए। जब ललारिफ़ा ने उनके आगमन के बारे में सुना तो उनका स्वागत करने के लिए वह काफ़ी दूर तक चली आयी। तत्त्वज्ञान का प्रसाद पाकर वह निहाल हो उठी और अंत में मन-कर्म से उनकी प्रधान शिष्या (मुरीद-ए-ख़ास) बन गई। वह जन्मजात संत (वली) थी मगर श्रेष्ठ सूफी-संतों के संपर्क में आने से उसकी आध्यात्मिक साधना में निखार और परिष्कार हुआ…। मुसलमानों का कहना है कि उसने सैयद हुसैन समनानी के सम्पर्क में आकर इस्लाम-धर्म को अपनाया।"

एक बात जो शताब्दियों से निर्विवाद चली आ रही है, यह है कि ललद्यद जन्म से ही एक सन्त थी और बचपन से ही वह 'पूजा' और 'साधना' के धार्मिक वातावरण में पली और बड़ी हुई। बाल्यकाल में उसमें आध्यात्मिक संवेदनशीलता के असामान्य संस्कार दृष्टिगोचर होने लगे और बाद में पति के घर में इन संस्कारों को और मुखरित होने का अवसर मिला। सहिष्णुता व तितिक्षा का पाठ सीखकर सत्यान्वेषण व सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा वह सच्चिदानंद का दर्शन 'स्व' में ही करने लगी जो कि उसके अनुसार इस जगत् का चरम सत्य है। अन्तर्जगत के आह्वान पर उसने बहिर्जगत् की उपेक्षा का समर्थन किया और इस उपेक्षा के लिए व्यक्ति की 'पात्रता' पर विशेष बल दिया। वैसे, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ललद्यद मुस्लिम धर्म-प्रचारकों एवं सूफियों के सम्पर्क में आयी होगी और अब्दुल अहद आज़ाद के अनुसार उसने उससे परस्पर हितों और रुचियों के बारे में विचार-विमर्श भी किया होगा। मगर, 'बीबी ललारिफ़ा' में दिए गए विवरण में संशोधन अपेक्षित है। यह निश्चित है कि लेखक ने लल के स्वयं के जिस वाख का हवाला देकर घटना का वर्णन किया है, उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि कहीं से भी नहीं होती। आज तक ललद्यद के जितने भी वाख मिले हैं चाहे वे प्रामाणिक हों या अप्रामाणिक, किसी भी वाख में उक्त कथा या इससे मिलती-जुलती कोई दूसरी कथा नहीं मिलती। इसके विपरीत यह बात ज़रूर स्वीकार की जा सकती है कि तत्कालीन सहृदय और श्रद्धालु जनता चूंकि ललद्यद के प्रति आस्थावान थी और उसे ब्रह्म-निरत पुण्यात्मा मानती थी, अतः कट्टरपंथियों ने उसके लिए आध्यात्म-साधना की चरमावस्था तक पहुंचने हेतु इस्लाम धर्म को स्वीकार करने की अनि-

१. हारी-पर्वत का फारसी नामकरण।

वार्यता का प्रचार किया होगा। यों उक्त घटना का उल्लेख १८८५ तक किसी भी इतिहास में नहीं मिलता है। 'तारीख-ए-हसन' के लेखक पीर गुलाम हसन के शब्दों में इस विवाद का उपसंहार यों किया जा सकता है—"हिन्दुओं का कहना है कि वह उनमें से ही एक थी और मुसलमान दावा करते हैं कि वह उनकी है। मगर हक़ीक़त यह है कि वह खुदा के ख़ास बंदों में से एक थी (फिल हक़ीक़त वय अज़ ख़ासान खुदा अस्त)। ईश्वर उसे शांति प्रदान करे।"

इस प्रकार ललद्यद ने ईश्वर की सत्ता को सर्वत्र स्वीकार करते हुए अपना संपूर्ण जीवन ब्रह्म-चिंतन में निरत एक रमती-फिरती जोगिन के रूप में व्यतीत किया (शिव छोरुम थलि थलि)[१]। खान-पान के बारे में प्रचलित परंपरागत हिन्दू विश्वासों की उसने कभी चिंता नहीं की (अनस ख्यनस क्या छुम द्वेष)। धार्मिक कृत्यों व धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्याचारों, बाह्याडंबरों तथा विक्षेपों का उसने खंडन किया। अंतरान्वेषण (आत्मनिरीक्षण व आत्मशुद्धि) तथा निष्काम साधना पर उसने विशेष बल दिया। कश्मीरी ब्राह्मणों की मान्यता के विपरीत मांसाहार की उसने निंदा की। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुबलि को भी निषिद्ध ठहराया और इसके लिए हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को फटकारा। इसी प्रकार व्यक्ति और व्यक्ति में या हिन्दू या मुसलमान में भेदभाव करना भी उसे स्वीकार नहीं था :

"मव ज़ान ह्यो'द त मुसलमान"

ललद्यद का कृतित्व शाश्वत मूल्यों के पुनर्निर्धारण, मानव-कल्याण के पुनर्जागरण तथा सामाजिक-चेतना के पुनरुत्थान की दार्शनिक अभिव्यक्ति है। इस महान् संत कवयित्री के निधन के बारे में कहा जाता है कि श्रीनगर से २८ मील दूर श्रीनगर-जम्मू राजमार्ग पर स्थित वेजिब्रोर (बिजबिहाड़ा) गाँव में जुमा मस्जिद की दीवार के पीछे उस देवी ने प्राण त्यागे। उसके शरीर से दिव्य-ज्योति फूटी और बाद में विलुप्त हो गयी।[२] मुहम्मद्दीन फ़ौक़[३] ने इस घटना को 'ऋषिनामा' से उद्धृत कर यों वर्णित किया है—"एक दिन ललद्यद मिट्टी के बने एक बहुत बड़े टब जैसे बर्तन (तगारी) में बैठ गयी और ऊपर से एक ऐसे ही बर्तन से अपने को ढक लिया। जिन्होंने उसे ऐसा करते देखा वे आश्चर्य करने लगे और थोड़ी देर बाद जब ऊपर के बर्तन को हटाया गया तो वहाँ पर कुछ भी शेष नहीं था।

१. ए० ए० ए० खण्ड II पृ० ११३
२. पीर गुलाम हसन व आनंद कौल
३. ख्वातीन-ए-कश्मीर, आर० पी० एल० १४५४

और इस प्रकार से वह इस संसार को सदा के लिए छोड़कर चली गयी।

ललद्यद का कोई भी स्मारक आज हमें नहीं मिलता। वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि कश्मीर में उसकी कोई समाधि या मकबरा या मंदिर नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उसका दाह-संस्कार अमुक स्थान पर किया गया या उसे अमुक स्थान पर दफ़नाया गया।[१]

मर्‌यम न कुँहु त मरु. न कोंसि
मारु. नु.च त लस नु.च...।

मेरे लिए जन्म-मरण है एक-समान
न किसी के लिए रोऊँगी, और
न कोई मेरे लिए रोएगा।

१. "ऐसा कहा गया है कि वह भाद्र पूर्णिमा को जन्मी थी तथा फाल्गुन शुक्लाष्टमी को दिवंगत हुई।" (जे० एल० के० जे० १९५६)।

अध्याय दो

ललवाख[1] : मूल-पाठ

यिम पद ललि व'न्य तिम हृदि आँख
ललद्यद ने जो पद कहे,
उन्हें तू हृदयपटल पर अंकित कर !

अध्याय एक में मैंने ललद्यद से जुड़ी जन-श्रुतियों, किंवदंतियों, अन्तर्कथाओं और दिव्य घटनाओं पर विस्तार से विचार किया। ऐसा मैंने इसलिए किया ताकि उन किंवदंतियों और जनश्रुतियों के प्रचार-प्रसार पर विराम लग जाए जो न तो ललद्यद के जीवन व कृतित्व की व्याख्या करती हैं और न उसकी शिक्षाओं को ही प्रतिपादित करती हैं। केवल इसलिए कि उनका आकलन संताख्यानों या अन्य इतिवृत्तों में किया गया है, उन्हें ऐतिहासिक घटनाएँ मानना उचित नहीं है। इन किंवदंतियों में से अधिकांश का उद्गम भक्तों की आस्था और श्रद्धा रही है। कुछ किंवदंतियाँ तो ललद्यद की मान्यताओं और उसके कृतित्व को व्यंजित न कर कतिपय धार्मिक आचारों के प्रति व्यक्ति की घृणा के दुर्भाव को स्पष्ट करती हैं (जैसे ललद्यद द्वारा देव मूर्तियों को विकृत करने की घटना[2]) और कुछ किंवदंतियाँ तो संताख्यान की अतिरंजित प्रकृति का मसाला-मात्र लगती हैं (जैसे मृत्यु के समय ललद्यद की देह का विलुप्त हो जाना आदि)। ऐसी कोई इतिहास-सम्मत सामग्री हमारे पास उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर ललद्यद के जीवनवृत्त को निर्धारित किया जा सके। आश्चर्य की बात तो यह है कि उसकी पुण्य-स्मृति में कभी किसी ने कोई स्मारक, मंदिर या मकबरा तक नहीं बनवाया। इसी प्रकार लल के कुण्ड (जो अब सूख गया है), विस्मृतप्राय सिद्ध-यारघाट, जहाँ पर ललद्यद के गुरु सिद्धमोल वितस्ता (झेलम) में स्नान किया करते

---

१. संस्कृत 'वाक्यम्' (एक वचन), 'वाक्यानि' (बहुवचन)। कश्मीरी में 'वाख' शब्द एकवचन और बहुवचन दोनों के लिए प्रयुक्त होता है।
२. अन्यत्र देखिए।

थे और जहाँ अब भी अमरनाथ की वार्षिक यात्रा के समय यात्री लोग नहाते हैं, को छोड़कर उसका अन्य कोई स्मृति-चिह्न आदि भी नहीं मिलता है। इसी प्रकार 'ऋषिनामों' या 'नूरनामों' में उल्लिखित सभी घटनाओं को इतिहास-सम्मत स्वीकार करना संभव नहीं है, क्योंकि एक तो वे नुंद ऋषि के दिवंगत होने के बहुत बाद लिखे गये और दूसरा उनमें संतचरित का अतीव अतिरंजित और आलंकारिक वर्णन मिलता है जो मुख्यत: कल्पना-प्रसूत है। ये विवरण स्थानीय व अभ्यागत महान् संतों द्वारा अर्जित जन-भावनाओं के सन्दर्भ में उनकी उपलब्धियों के विशिष्ट नमूने हैं।[1] कई अन्य संत अख्याताओं (संतचरित-लेखकों) की भांति कश्मीरी संतचरित लेखक भी, चाहे वे किसी भी धर्म के रहे हों, संतों और सूफियों के चरित-लेखन में नितान्त वस्तुपरक नहीं रह सके हैं। इब्न खलदून के मतानुसार परंपरा की नियति असत्य कथनों को साथ लेकर चलने की है। उनके अनुसार इसके लिए उत्तरदायी कारण इस प्रकार हैं—(क) किसी मान्यता या विचार-संप्रदाय में विशेष अनुरक्ति होना, (ख) इस बात का विश्वास कि पूर्ववर्ती आख्याताओं से प्राप्त सामग्री प्रामाणिक होगी और (ग) घटनाओं से जुड़ी हुई परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान न होना।[2] ये कारण ऊपर वर्णित बातों को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

ललद्यद एक ऐतिहासिक पात्र है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता और न ललवाखों की रचना पर ही प्रतिवाद किया जा सकता है। समय की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ इन वाखों की शैली अथवा विषयवस्तु में जोड़-तोड़ होने के बावजूद ये वाख कवयित्री के कंठ से नि:सृत होने के समय से लेकर आज तक कश्मीरियों की स्नहेमयी स्मृति में पीढ़ियों से सुरक्षित चले आ रहे हैं। अपने समकालीन किन्तु अल्पवयस्क महान् संत-कश्मीर के स्थानीय मुस्लिम-ऋषि-संप्रदाय के प्रवर्तक, प्रसिद्ध धर्मात्मा नुंद ऋषि ने ललद्यद का आदरपूर्वक बखान किया है। अन्य संत-कवियों, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, सभी ने इस महान् कवयित्री के प्रति अपने समादरभाव को अविस्मरणीय शब्दों में व्यक्त किया है।

ललद्यद के वाखों (पदों या सूक्तियों) के यद्यपि कई संग्रह मिलते हैं किन्तु इनमें उपलब्ध वाखों को मिलाने या समवलोकन करने का प्रयास किसी ने नहीं किया है। थोड़ा-बहुत प्रयास ग्रियर्सन और बरनेट ने जरूर किया है मगर वाखों के सर्वांगीण पाठालोचन का कार्य अब तक शून्य के बराबर हुआ है। ललद्यद के वाखअपने समय में न तो कभी एकत्र किये गए और न ही कभी लिपिबद्ध किये गए। बाद की हस्तलिपियों में जो वाख मिलते हैं वे या तो अधूरे हैं या फिर विषयांतर

---

१. ए. ए. ए. खण्ड २, पृ० १४६-५१

२. 'इस्लाम' में एलफर्ड गियोम द्वारा उद्धृत (पृ० २०-२१)

या पाठ-भेद से ग्रस्त हैं।[1] इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ये वाख मुख्यतः मौखिक परंपरा में ही प्रचलित रहे और इसी रूप में हम तक पहुंचे। ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा है कि ललद्यद की सम्पूर्ण रचनाओं (वाखों) के संग्रह की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए हमें उनकी प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि, उनके अनुसार—"साहित्य को लिपिबद्ध करने की प्राचीन भारतीय परंपरा, जिसके अनुसार उसे (साहित्य को) कागज़ पर नहीं, स्मृति-पटल पर अंकित किया जाता था और जो गुरु-शिष्य या वाचक-श्रोता परिपाटी के अनुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही, कश्मीर में भी प्रचलित थी। अतः भोजपत्र या कागज की हस्तलिपियों से हाड़मांस के बने ये स्मृति-पटल अधिक विश्वसनीय हैं।"[2] देखा जाए तो वेदों की ऋचाएं भी सैकड़ों वर्षों तक मौखिक रूप में ही प्रचलित रहीं। वैसे, साहित्य की मौखिक परंपरा व उसकी प्रामाणिकता पर सहज विश्वास करने का ग्रियर्सन का एक और कारण है और वह है स्टेन द्वारा १८८६ में संपादित कश्मीरी लोक कथाओं का अभूतपूर्व संग्रह। स्टेन ने ये कथाएं एक पेशावर कथावाचक के मुख से सुनकर लिपिबद्ध की थीं और फिर १५ वर्षोपरान्त जब ग्रियर्सन के अनुरोध पर उस कथावाचक से इन कथाओं के कुछ अवतरण पुनः दोहराने को कहा गया तो उसने 'शब्दशः, अक्षरशः और विरामशः' उनकी पुनरावृत्ति की।[3]

ग्रियर्सन के लिए ललद्यद के पद्यों का संग्रह १९१४ में स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० मुकुंदराम शास्त्री ने बिल्कुल ऊपर कही गई विधि से किया। ललद्यद के वाखों की कोई संतोषजनक हस्तलिपि के न मिलने पर वे एक बार संयोग से हदंवाड़ा तहसील के गु.श गाँव के एक वृद्ध ब्राह्मण श्रीधर्मदास दरवेश के सम्पर्क में आए। यह वृद्ध ब्राह्मण पूजादि के समय ललद्यद के पद्यों को गाता था जिन्हें उसने अपनी कुल-परंपरा से ग्रहण कर कंठस्थ कर लिया था। मुकुन्दराम शास्त्री ने इस ब्राह्मण के कंठ से ललवाख सुनकर उन्हें लिपिबद्ध किया तथा उनकी एक हस्तलिपि तैयार कर ग्रियर्सन को भिजवा दी जिन्होंने बाद में उसके आधार पर 'ललवाक्यानि' पुस्तक प्रकाशित करायी। ग्रियर्सन ने यद्यपि यह पुस्तक विभिन्न हस्तलिपियों को मिलाकर तैयार नहीं की है तथापि कश्मीर की शारदा लिपि में लिखी दो[4] हस्तलिपियों तथा २००वर्ष पूर्व राजानक भस्कराचार्य द्वारा संस्कृत रूपांतर के साथ संपादित ६०वाखों के संग्रह को ध्यानमें अवश्य रखा है। 'ललवाक्यानि' एक ऐसा विद्वत्तापूर्ण संग्रह है जिसमें १०९[5]

---

१. एल. वी. पृ० ३
२. वही, पृ० ३
३. एल, वी. पृ० ३
४. वही, पृ० ५
५. के. एन. के. परिशिष्ट में दिए गये पद्यों को छोड़कर।

ललवाख सम्मिलित हैं और जो मुख्यतः अन्य सभी संग्रहों (संस्करणों) का आधार है। सर रिचर्ड टेम्पल के इस कथन को निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि, "कुल मिलाकर यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि ललद्यद अपने पीछे जो वाख छोड़ गई उन्हें अपने मूल पाठ के साथ प्राप्त करने में उन्हें (ग्रयर्सन को) अच्छी सफलता मिली है।"[1] पं० आनन्द कौल ने इन वाखों में ७५ वाख और जोड़कर अपनी पुस्तक 'ललयोगेश्वरी'[2] में लिखा है—'ग्रियर्सन व बरनेट द्वारा संगृहीत वाखों के अतिरिक्त ललद्यद के ऐसे और अनेक वाख अप्रकाशित रह गये थे जिन्हें मैंने कश्मीर की घाटी में कई जगह घूमकर एकत्र करने का प्रयास किया और मेरे अथक परिश्रमोपरान्त ७५ और वाख प्राप्त हो सके।" कुछ और वाखों को मिलाकर उक्त दो संग्रहों के आधार पर वाखों की कुल संख्या २५८ बैठती है।

ग्रियर्सन के 'ललवाक्यानि' जैसे विद्वात्तपूर्ण संग्रह के बारे में मैं पूर्व में कह चुका हूं कि 'कुलमिलाकर' उन्हें ललद्यद के वाखों के मूलपाठ को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने में विशेष सफलता मिली है। यहाँ पर मैं यह कह दूं कि इस संग्रह के वाखों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का (आँख मूँदकर) अनुमोदन भी नहीं किया जा सकता। यद्यपि यहाँ पर पाठालोचन के आधार पर कारणों का विशद अध्ययन करने की गुंजाइश नहीं है और न ही इस प्रकार की पुस्तक-माला का यह अभीष्ट ही हो सकता है, तथापि संक्षेप में यह स्पष्ट करना उचित होगा कि इस प्रकार की खोज से यह बात अनायास ही सामने आएगी कि कई सारे अप्राधिकृत व अयुक्तियुक्त पाठांतर तथा भ्रामक व जाली क्षेपक किस प्रकार अवांछित ढंग से ललद्यद के साथ जोड़ दिये गए हैं। इस समय तक उपलब्ध जानकारी के अनुसार ३५ वाख ऐसे हैं जो ललवाखों के अन्तर्गत भी रखे गए हैं और संत नुंदऋषि की जीवनियों, यथा 'नूरनामों' व 'ऋषिनामों', जिनमें उसके 'श्रुक'[3] भी संकलित है, में भी मिलते हैं। तीन वाख ऐसे हैं जो ललवाखों में भी मिलते हैं और रूपभवानी (१६२०-१७२० ई०) के पद्य-संग्रह रहस्योपदेश में भी मिलते हैं। तीन चतुष्पदियाँ ऐसी हैं जो मूलतः अज़ीज़ उल्लाह ख़ान (१९वीं शती) की हैं किन्तु जे० हिण्टन नोल्ज़ ने उनकी रचना का श्रेय ललद्यद को दिया है और इनमें से दो को गिर्यसन ने अपनी 'ललवाक्यानि' पुस्तक में भी सम्मिलित किया है। वैसे यह दावा करना गलत है कि यह वाख चूंकि अन्य कवियों के पद्य-संग्रहों में उपलब्ध हैं, अतः इन्हें मात्र इसी कारण से इन कवियों की रचनाएं माना जाए।

१. आर. सी. टी. पृ० १०

२. ए. के. पृ० ६

३. मिलाइए संस्कृत 'श्लोक'। नुंदऋषि के पद्य प्रायः इसी नाम से जाने जाते हैं।

श्रमसाध्य संवीक्षोपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि ३५ वाखों में से जो वाख 'ललवाख' और 'नूरनामा' दोनों में मिलते हैं, केवल १५ ऐसे हैं जो संभवत: ललद्यद के हैं। शेष ललवाखों के ऐसे पाठांतर हैं जिन्हें नुंदऋषि के साथ जोड़ दिया गया है। यह तथ्य कि 'नूरनामा' की प्रथम हस्तलिपि ललवाखों के लिपिबद्ध किये जाने से पूर्व तैयार की गई थी (यद्यपि यह तथ्य अपने आप में कल्पनाश्रित है), इस अकाट्य प्रमाण की पुष्टि करता है कि जो वाख ललद्यद और नुंदऋषि दोनों के बताये जाते हैं, वे मूलत: नुंदऋषि की ही रचनाएं हो सकती हैं, ललद्यद की नहीं।[१] यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि ललवाख चूँकि अपने समय में खूब प्रचलित रहे और प्रारम्भ से ही जनभाषा के साथ घुलमिल गए, अत: यह संभव है कि ललद्यद और नुंदऋषि की श्रद्धालु शिष्य-परंपरा ने नुंदऋषि के श्रुकों और ललवाखों के घालमेल को अपनी स्मृति में सुरक्षित कर लिया होगा। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि (अ) प्रो० बूल्हर की 'डिटेल्ड रिपोर्ट आफ ए टूअर इन सर्च ऑफ संस्कृत' पाण्डुलिपि में ललद्यद के वाखों के दो संग्रहों[२] का उल्लेख हुआ है और (आ) ग्रियर्सन ने अपने संग्रह को तैयार करने के लिए स्टेन[३] के ललवाख सम्बंधी दो पाडुलिपियों को देखा था। ये पाडुलिपियाँ या मूल हस्तलिपियाँ या वे प्रतिलिपियाँ जिनके कि ये अनुवाद हैं, कब लिखी गईं, अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। अत: यह स्वीकार करना कि बाबा नसीब-उद्दीन द्वारा लिपिबद्ध किया गया 'नूरनामा' जो इस रचना-परंपरा का प्रथम 'नामा' है और नुंदऋषि के दो सौ वर्ष बाद लिखा गया, ललद्यद के वाखों की अब तक प्राप्त हस्तलिपियों से पूर्व का आलेख है, नितांत असम्भव है।[४] यह भी विचारणीय है कि २०० वर्षों की कालावधि वाखों व श्रुकों के उक्त सम्मिश्रण के लिए क्या बहुत ज़्यादा नहीं हैं ? वैसे इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ऋषिनामों व नूरनामों की सभी हस्तलिपियों में इस प्रकार का घालमेल हुआ है। कुछ में तो शेख नूरुद्दीन (नुंदऋषि) की पद्यबद्ध सूक्तियों (श्रुकों) के सुन्दर नमूने यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। हाँ, अतीव प्राचीन हस्तलिपियों में यह बात नहीं है।[५] इसके अलावा बाबा कमाल-उद्दीन द्वारा १८३५-३६[६] में रचित 'ऋषिनामा' हस्तलिपि को भी प्रमाण-स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है जिसमें एक पृथक् अध्याय में ललद्यद के वाखों के नमूने दिये गए हैं और

१. एन. एन. पृ० १६-१८

२. एल. बी. पृ० ३, पाद-टिप्पणी २

३. स्टेन ए. और स्टेन बी. कृपया अन्यत्र देखें।

४. विशेषतया स्टेन ए. पाण्डुलिपि।

५. देखिए आर. पी. एल. पाण्डुलिपि नं० ५३, ५०४, ६६८ व ६५६

६. माहनूर गांव के निवासी श्री मोतीलाल साकी के पास १६०३ में लिपिबद्ध की गई पाण्डुलिपि के आधार पर।

जिनकी रचना का श्रेय बाद में जैसा कि अमीन कामिल[1] ने किया है, नुंदऋषि को दिया गया है। ऐसा लगता है कि यह गड्ड-मड्ड चाहे वह सुविचारित हो या नहीं, बहुत बाद में हुआ है।

ललवाखों के तुकान्त, अतुकान्त या छंदबद्ध होने के प्रश्न को लेकर भी इनके मूल-रचियता की प्रामाणिकता के सम्वन्ध में कोई निश्चित मत स्थापित नहीं किया जा सकता। ऐसा तर्क दिया जाता है कि कश्मीरी में 'मुक्तछंद' के प्रयोग की परंपरा चूँकि काफी नयी (१९४७ के बाद की) है, अतः मुक्तछंद में प्राप्त वे सभी वाख जो ललद्यद के साथ जोड़ दिये गए हैं, संदिग्ध हैं या फिर मूल का अपभ्रंश है।[2] इस तर्क को हम निम्नलिखित आधार पर एकदम अस्वीकार कर सकते हैं। प्रथम, न तो उस समय तक फारसी एक विषय के रूप में मकतबों में पढ़ाई जाती रही होगी और इस कारण न कवि-कर्म के लिए छंद-विधान की अनिवार्यता का प्रचलन ही रहा होगा। दूसरा, ललद्यद की स्वयं की जितनी शिक्षा रही होगी, वह निश्चित रूप से संस्कृत या उस समय की कश्मीरी की रही होगी। तीसरा, संस्कृत तथा पुरानी कश्मीरी के काव्य में प्रायः छंदबद्धता (तुक) का व्यवहार नहीं मिलता, यद्यपि शितिकंठ के 'महानय प्रकाश' में तुक—प्रत्येक चतुष्पदी में अन्त्यानुप्रास—का विधान है। अतः इस उदाहरण के आधार पर इस मत की पुष्टि होती है कि अन्य अन्तर्विरोधों के होते हुए भी इस प्रकार की रचना-परंपरा को प्राचीन माना जा सकता है। दो सौ वर्षों या इससे भी ज़्यादा के अन्तराल के बाद 'नूरनामा' की प्रथम प्रति की सूचना मिलने तक फारसी भाषा के अत्यधिक प्रभावस्वरूप कविता में छंद का चलन अपेक्षित व अनिवार्य हो गया होगा, ऐसा संभव है। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि लोक-कवियों, लिपिकों या खुशनवीसों ने छंद अथवा तुक व लय मिलाने के लोभ में शब्दों में हेराफेरी की हो या फिर कहीं-कहीं पर संपूर्ण पद्य का आशय ही तुक के निमित्त बदल डाला हो क्योंकि इब्न खलदून के शब्दों में "इस प्रकार की हेराफेरी परिवर्तनकर्त्ताओं की विशिष्ट सांप्रदायिक मान्यताओं को रेखांकित करती है।"

ललद्यद के जीवन-तथ्यों की तरह उसके वाखों के मूल पाठ के सम्बंध में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। उसने न अपने हाथ से कुछ लिखा है, न उसकी कोई हस्ताक्षरित या साक्ष्यांकित हस्तलिपि ही मिलती है और न शितिकंठ के 'महानय प्रकाश' की हस्तलिपियों की तरह उसके किसी समकालीन या परवर्ती सहयोगी द्वारा लिखित कोई आलेख ही मिलता है। उस समय की परिस्थितियों का अध्ययन कर यदि उसके जीवन और समकालीन परिस्थितियों

---

१. एन. एन. पृ० ८२, १४-१५
२. वही पृ० १७-१८

पर विचार किया जाए तो यह सब असामान्य या अनौचित्यपूर्ण न लगेगा। दरअसल, ललद्यद ने कभी प्रचार-प्रसार या प्रकाशन के लिए नहीं लिखा और न ही अन्य विद्वानों या धर्म-प्रचारकों की तरह ज्ञान-परम्परा को बढ़ाना ही उसका लक्ष्य था। अपने वाखों को उसने कभी लिपिबद्ध किया ही नहीं। वे तो उसकी आत्मा से निःसृत ऐसे उद्‌गार हैं जिन्हें भक्तों ने सुना और हृदयंगम कर तत्कालीन प्रथानुसार अध्यात्म-ज्ञान की निधि मानकर अपने अन्य भक्तजनों में मौखिक रूप में प्रचारित किया। संभवतः उनमें से किसी एक भक्त ने उन थोड़े-से वाखों को संगृहीत कर लिया जो उसने औरों से सुने या कंठस्थ किये थे। इसी प्रकार किसी अन्य भक्त ने इन थोड़े से तथा कुछ अन्य वाखों को किन्हीं दूसरों से सुनकर या कंठस्थ कर संगृहीत कर लिया। यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक कि ये वाख घुमक्कड़ भाँडों या लोक-वादकों की भजन-सामग्री और बाद में कश्मीरी शास्त्रीय संगीत- 'सूफियाना-कलाम' के अभिन्न अंग न बन गये। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया भाषा में भी शनैःशनै अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन होता गया और अनेक शब्द अप्रचलित और दुर्बोध बन गये। जन-समुदाय का अधिकांश भाग जो अब तक इस्लाम-धर्म ग्रहण कर चुका था, अपनी प्राचीन परंपराओं से नाता तोड़ बैठा और उसके लिए ललद्यद द्वारा उच्चारित वाखों के सूक्ष्मार्थ व उनकी बहुमूल्य दार्शनिक व यौगिक अर्थछवियों का प्रायः कोई महत्त्व नहीं रहा। अतः इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि 'सूफियाना कलाम' के इन संगीतकारों तथा घुमक्कड़ व अशिक्षित भाँडों ने ललवाख के मूलपाठ में फेर-बदल करने का दुःसाहस कर अपनी ओर से उनमें शब्दों को जोड़-तोड़कर संजोया होगा। या फिर उन मूल पंक्तियों को बदल दिया होगा जो उनके मुसलमान या हिन्दू श्रोताओं की ग्राह्य-शक्ति से परे रही होंगी। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि अब तक हिन्दू जन-समुदाय भी संस्कृत या प्राचीन कश्मीरी से पराङ्‌मुख होकर फारसी के काफी निकट आ चुका था। इसके अतिरिक्त अन्य धर्मात्माओं, दरवेशों, फकीरों और साधुओं ने इन वाखों को या तो उस रूप में प्रचारित किया जिस रूप में उन्होंने उनको सुना या ग्रहण किया था या फिर उन्हें अधिक बोधगम्य व लोकप्रिय बनाने हेतु उनमें संस्कृत-कश्मीरी के पुराने अप्रचलित शब्दों के स्थान पर फारसी-अरबी मूल के अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित शब्दों की भर्ती की। जैसे, 'प्रकाश-स्थान' के लिए 'लामकान,' 'दीप' के लिए 'चोंग,' 'अलथानस' के लिए 'मयखानस,' 'हुनी आकार' के लिए 'ब्युत जलाव' आदि। यह भी संभव है कि कुछ लोगों के स्वरचित पद या वाख बाद में 'ललवाख' के रूप में प्रचारित या प्रसारित हुए हों। ऐसा तो बहुत बाद तक यानी १६१६ तक हुआ है जब श्री जे० एल० के० जलाली ने अपनी पुस्तक प्रकाशित की, जो उनके अनुसार "अब तक अप्रकाशित

३८ वाखों का संग्रह है।"[1] प्रस्तुत संग्रह के सम्बंध में उनका कहना है कि "इस संग्रह में संकलित वाख एक महात्मा की कृपा से प्राप्त हुए हैं जिन्हें श्री रामचन्द्र मल्ला ने मुझ तक पहुंचाया। दूसरे वाख भी उन्हीं के द्वारा बताये गए हैं।" ये 'दूसरे वाख' आज दिन तक न सामने आये और न प्रकाशित ही हुए। लगता है कि यह ठीक ही हुआ क्योंकि जो वाख पहले प्रकाशित हुए थे उनके बारे में बाद में यह पता लगा कि वे दरअसल महात्माजी के अपने निजी उद्‌गार थे और ललद्यद की रचनाओं से उनका दूर का भी वास्ता नहीं था। वाखों के नाम पर इस प्रकार का घालमेल व खंडन-मंडन न केवल उनके मौखिक रूप में हुआ है, बल्कि उनको सुरक्षित रखने या लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया में भी ऐसा अक्सर हुआ है। इस सम्बंध में 'नूरनामा'[2] के बारे में अनन्द कौल के विचार जो ललवाखों के बारे में भी सही बैठते हैं, विचारणीय हैं—" विडम्बना यह है कि उन (सूफ़ी कवियों) ने जो कुछ कहा वह मौखिक रूप में अपने शिष्यों को समझाया और बाद में उनकी इन उक्तियों को फारसी रंग में बिना विरामादि मात्रा-चिह्नों के विभिन्न शिष्यों, अनुयायियों वे घुमक्कड़ भाँड़ों द्वारा लिपिबद्ध किया गया। इस प्रकार अवांछित व त्रुटिपूर्ण ढंग से अभिलिखित व व्यवहृत किये जाने के कारण वे पर्याप्त जटिल, अव्यवस्थित व क्षेपकों से परिपूर्ण बन गये। अपनी बहुमूल्य व सुरक्षित रखी गयी हस्तलिपि के हाशिए पर यदि किसी व्यक्ति ने कुछ व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ अंकित कीं तो बाद में उस हस्तलिपि के स्वामी या प्रतिलिपिक ने उन टिप्पणियों को मूल पाठ का ही अंग मान लिया। इसका कारण यह है कि पार्श्व-टिप्पणियों व परिशिष्ट की टिप्पणियों में प्रभेद करने की उस समय कोई विशेष रीति-नीति का प्रचलन नहीं था। वे यह भी नहीं जानते थे कि ऐसी सूक्तिबद्ध रचनाओं में एक शब्द के भी हेर-फेर से भयंकर परिणाम निकल सकते हैं। अतः पुरानी हस्तलिपियों को सही-सही पढ़ पाना एक पेचीदा कार्य है।"

"मुझे 'नूरनामा' की जो दो प्रतियाँ मिलीं उनका वही हश्र हुआ है जिसका कि मैं ऊपर वर्णन कर चुका हूँ।"

अतः उक्त परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए व बाह्य-साक्ष्य की कोई स्पष्ट सूचना उपलब्ध न होने के परिणामस्वरूप मूलपाठ के अन्तर्साक्ष्य पर ही हमें आश्रित रहना पड़ता है। यों इसमें भी कई तरह की सीमाएँ हैं। ललवाखों

---

१. जे. एल. के. जे. (उपसंहार)। इन वाखों में से छह वाख, यथा नं० ४, १५, २२, २६, ३१ व ३८ आनन्द कौल को 'ललयोगेश्वरी' में क्रमशः ३१, ३५, ४०, ७५, ३ और ४६ क्रमांक के अन्तर्गत मिलते हैं।

२. एन. आर. पृ० १, गद्यांश ४ व ५

में ऐसे कोई प्रसंग या अन्तर्कथाएँ नहीं मिलतीं जिनसे तत्कालीन घटनाओं पर प्रकाश पड़ता, या जिनसे इन घटनाओं को निश्चयपूर्वक कालांकित किया जा सकता। इन वाखों की प्रामाणिकता को निर्धारित करने का हमारे पास मात्र एक विकल्प है कि उनकी कथन-शैली व छंद-विन्यास तथा उनमें व्यक्त विचारों की उत्कर्षता व इन विचारों को अभिव्यक्ति में निबद्ध करने की प्रक्रिया या फिर कुल मिलाकर ललद्यद की अपनी शैलीगत मौलिक विशेषताओं को आधार माना जाए। इन मान दण्डों के आधार पर ललवाखों की बहुत बड़ी संख्या ऐसी बैठती है जो निःसन्देह ललद्यद की ही लगती है और आज तक उन्हें ललद्यद की ही रचनाएँ माना जाता रहा है। इन मानदण्डों के आधार पर यह भी निश्चित किया जा सकता है कि वास्तव में ललद्यद-शैली में लिखे प्रामाणिक वाख कौन-से हैं और उसके साथ गलत ढंग से जोड़े गये वाख कौन-से हैं? यहाँ पर हमें दो बातों का ध्यान रखना होगा। प्रथम, उपर्युक्त मानदण्डों में से किसी एक को अकेला आधार मानकर हम वाखों की प्रामाणिकता का परीक्षण नहीं कर सकते। इसके लिए उचित यह होगा कि वाख के समग्र प्रभाव को ध्यान में रखा जाए या वाख-विशेष की प्रामाणिकता को निर्धारित करने के लिए सभी मान-दण्डों को एक-साथ आधार बनाया जाए। दूसरा, यह भी आवश्यक है कि वाखों की संदिग्धता-असंदिग्धता के बारे में निर्णयात्मक मत स्थापित करने से पूर्व उन सभी का सर्वांग-सम्पूर्ण (पाठांतरों सहित) सावधानीपूर्वक पर्याप्त अध्ययन किया जाए। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा कि उक्त मानदण्ड भले ही कितने सटीक और व्यावहारिक क्यों न हों, फिर भी अंततः हमें अपनी निर्णय-शक्ति व विवेकशीलता तथा एक आलोचक-जैसी तर्क-बुद्धि से ही काम लेना होगा। तीसरी बात जो प्रायः सावधानी के रूप में काम में ली जा सकती है, ललवाखों का साहित्यिक व भाषा-विषयक तुलनात्मक अध्ययन करने की है। इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि ललवाखों के पूर्व व बाद में रचित कश्मीरी साहित्य की कृतियों—शितिकंठ की 'महानय प्रकाश,' भट्टावतार की 'बाणासुरवध,' गणक प्रशस्ट की 'सुख-दुःखचरितम्' तथा त्रिक् दर्शन के मूलपाठों में यत्रतत्र उल्लिखित पुरानी कश्मीरी[1] के अंशों का हमें यथेष्ट ज्ञान और अध्ययन होना चाहिए। यह निश्चित है कि ललवाख मूलतः पुरानी कश्मीरी में रचे गये और जैसाकि पहले कहा जा चुका है, बाद में हम तक आधुनिक कश्मीरी में पहुंचे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा में प्रचलित होने के कारण तथा भाषा के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण कालांतर में उनमें काफी

---

१. ललद्यद और नुंदऋषि की भाषा का कभी-कभी 'पंडितो' या 'संस्कृति' कहा जाता है जो निरर्थक है।

फेर-बदल हुआ। सर जार्ज ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा है कि, "कर्तृत्व के प्रति समादरभाव और पदों की छंदोवद्ध शैली ने अभिव्यक्ति के पुराकालीन रूप को सुरक्षित रखने में अच्छी भूमिका निभायी है।[१] यहाँ पर ध्यातव्य है कि वाखों के इस परिरक्षण में गुरुशिष्य-परंपरा का अनुसरण करने वाले उन स्त्री-पुरुषों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिन्होंने इन वाखों को स्वाध्याय अथवा नित्य की धार्मिक चर्या के निमित्त कंठस्थ कर लिया। वास्तव में, शुद्ध धार्मिक भावना के साथ इन वाखों को यथातथ्य सुरक्षित रखने का श्रेय उन्हीं को जाता है। जहाँ उन्हें कुछ शब्द या प्रयोग समझ में नहीं आये, "वहाँ उन्होंने पदों (वाखों) को अधिक बोद्धगम्य बनाने हेतु उनमें अपनी ओर से जोड़-तोड़ कर अनुमानिक पाठ-संशोधन करने का दुःसाहस नहीं किया।" इसी वजह से सर जार्ज का मानना है कि "इस प्रकार का अभिलेख कई दृष्टियों से लिखित पांडुलिपियों की तुलना में अधिक मूल्यवान् सिद्ध होता है।"

पीछे के पृष्ठों में जो कुछ कहा गया, उसके आधार पर वर्तमान रूप में उपलब्ध ललवाखों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के प्रश्न को लेकर सुविचारित निष्कर्ष (संभावनाएं मात्र, अंतिम सत्य नहीं) पर पहुँचा जा सकता है। प्रथम, हम उन तीन वाखों[२] को एकदम अस्वीकार कर सकते हैं जिनका टेक-पद "वुनि छय सुल त छांडुन यार" है क्योंकि वे मूलतः अजीज खान (१९वीं शती) नाम के एक कश्मीरी कवि की एक गजल के 'वचन' (वंद) हैं[३]। इसी प्रकार (अ) जे० हिण्टन बोल्ज़[४] द्वारा ललद्यद से जोड़ दिये गए उस वाख को भी अस्वीकार किया जा सकता है जिसमें 'तहसीलदार' शब्द का प्रयोग मिलता है क्योंकि ललद्यद के समय में तहसीलदारी का रिवाज नहीं था। वैसे भी कथ्य और शिल्प की दृष्टि से यह उन्नीसवीं शती का ही पद्य लगता है। (आ) 'लोलकी मॅ सपनुस फान'[५] टेकपद वाले वाखों को भी उनकी शैली, वर्ण्य-विषय, छंद व अन्य अन्तर्निर्देशों के आधार पर अस्वीकार किया जा सकता है क्योंकि मूल रूप में यह पद किसी कश्मीरी गजल का 'वचन' है और इस काव्य-विधा का आविर्भाव कश्मीरी साहित्य में ललद्यद के २०० वर्ष बाद हुआ। तीन पद्य ऐसे हैं जो 'ललवाख' में भी मिलते हैं और रूपभवानी के 'रहस्योपदेश' में भी प्राप्त होते हैं और मुझे यह कहने में संकोच नहीं होता कि इनमें से दो रूपभवानी के ही हैं, ललद्यद के नहीं[६]। रूपभवानी के पद्य

---

१. एल. वी. पृ० ७
२. वही. नं० ११, १०० व एल. वी नं० ४
३. एन. एन. पृ० १९-२०
४. एल. वी. ए. नं० ६
५. ए. के. आर. पृ० १६२
६. ए. के. नं० १ और २

उसके जीवनकाल में ही लिपिबद्ध किये गए और वह इतनी प्रसिद्ध हो गयी कि अनेकों ने उसका शिष्यत्व ग्रहण किया। जिनमें उसके स्वयं के पिता पं० महादेव धर के परिवार के सभी सदस्य भी सम्मिलित थे। वह स्वयं शिक्षिता थी और फारसी व संस्कृत का उसे अच्छा ज्ञान था। उसने कुछ पत्र भी लिखे और सम्भव है कि अपनी कुछ रचनाओं को लिपिबद्ध भी कर डाला। इधर कुछ समय पहले तक उसके पद्यों का शिष्यों द्वारा धार्मिक-प्रबोधनचर्या के रूप में कई दिनों तक व्यवहार होता रहा। वैसे, यह असंभाव्य नहीं लगता कि नुंदऋषि या अन्य सूफी संतों की तरह रूपभवानी ने भी ललद्यद के प्रति श्रद्धाभाव से उत्प्रेरित होकर अपने उद्गारों को ललवाखों की शैली पर गढ़ा हो। उदाहरणार्थ रूपभवानी के एक पद की प्रारंभिक पंक्ति इस प्रकार हैं—"यवु. तूर चोलित वल अम्बर।" इसका मूल[1] निश्चित रूप से ललद्यद का कोई वाख है क्योंकि इसमें प्रतिपादित विषय-वस्तु व उसे अभिव्यक्त करने की शैली ललद्यद के पर्याप्त सन्निकट है और इस प्रकार की शैली केवल ललद्यद की ही हो सकती है।

३५ वाख ऐसे हैं जो पाठांतरों के साथ 'ललवाख' और 'नूरनामा' दोनों में मिलते हैं। यहाँ पर प्रत्येक वाख का पाठालोचन करना न संभव है और न उचित ही। नुंदऋषि के श्रुकों (श्लोकों) का निकट से संवीक्षण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दो या तीन सौ सालों के गुजर जाने के बाद जब नूरनामों को लिपिबद्ध किया गया तब तक भाषा में यद्यपि काफी परिवर्तन आ चुका था, मगर यह संभव है कि ललद्यद के कई वाख नुंदऋषि के साथ जुड़ गए हों या नुंदऋषि के ललद्यद के साथ। खैर, जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि श्रुकों का वर्ण्य-विषय मुख्यतः उपदेशात्मक तथा ध्वनि चरित्र-निर्माण की है जिसमें कवि ने प्रधानतः जीवन व भौतिक सुखों की नश्वरता का वर्णन कर व्यक्ति को आत्मानुशासन, सदाचार व धर्मनिष्ठा का पाठ पढ़ाया है। अपनी सूत्रात्मक शैली से इन श्रुकों ने निःसन्देह भाषा को समृद्ध बनाया है। इसका अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि श्रुकों के अनेक सूत्र लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हो गए हैं।"[2]

ललद्यद की अपनी एक अलग शैली है। उसके वाख "उसकी स्वानुभूत [रहस्यवादी चिंतनधारा के सहज प्रतिफलन हैं जो उसकी] प्रांजल काव्य-शैली की प्रामाणिकता को संजोए उसके सरल-सजीव बिम्ब-विधान व वाग्मिता की अद्वितीय स्फूर्ति का परिचय देते हैं जिसके आधार पर आज तक लोगों के मानसपटल पर व कश्मीरी साहित्य में उसकी ये पद्य-बद्ध सूक्तियाँ चिर-स्थायी व प्रतिष्ठापूर्ण स्थान बनाये हुए हैं। उसके पद्यों में हमें अलौकिक व

---

१. एल. वी. नं० २८ व ३८ (आर. बी. पृ० १८)

२. 'स्टडीज इन कश्मीरी' जयालाल कौल, पृ० ३० व ३३

रहस्यवादी सत्यानुभूतियों का आत्मसिद्ध व भावपूर्ण उन्मेष मिलता है जो ब्रह्म-ज्ञानी संत की विशेषता है।[1] रहमान राही ने इस बात को और भी स्पष्टतापूर्वक अपने शब्दों में यों व्यक्त किया है—"शेख नूरुद्दीन के पद्य जिन्हें श्रुक कहा जाता है, यद्यपि ऊपर से देखने में भाव और सामग्री की दृष्टि से ललद्यद के वाख-जैसे लगते हैं, मगर वे उनका मुकाबला नहीं कर सकते। ललद्यद के वाख दहकते (पुंजीभूत) अंगारों की तरह हैं, जबकि शेख नूरुद्दीन के श्रुक बुझती राख की चिनगारियाँ हैं। दोनों की पृष्ठभूमियाँ यद्यपि एक-समान हैं तथापि दोनों को काव्य-सृजन की प्रक्रिया में ऐसा कोई मौलिक प्रभेद है जिससे इन दो संत-रचनाकारों के कर्तृत्व में गहन अंतर देखने को मिलता है। शेख साहब के श्रुक जीवन अनुभवों को उतना व्याख्यायित नहीं करते जितना कि उनकी नैतिक-शिक्षाओं की सूचना देते हैं। मन-बुद्धि को उद्बुद्ध करने की उनमें सामर्थ्य नहीं है। जिन उपमाओं या रूपकों का वह (नुंदऋषि) प्रयोग करता है, वे मात्र व्याख्या के लिए अथवा उदाहरण-स्वरूप प्रयुक्त हुए हैं, गहन अन्तरानुभूतियों को अभिव्यंजित करने वाले प्रतीकों के रूप में वे हमारे समक्ष उपस्थित नहीं होते।"[2] इसके अलावा दोनों में शिल्पगत अंतर भी हैं। श्रुक फारसी के मात्रिक छंद 'बहर' पर आधारित ललद्यद के वाखों की तुलना में एक सटीक-सुगठित संरचना है। वाख अपेक्षाकृत अधिक लचीले और निर्बंध हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन का यह मत कि उसके (ललद्यद के) पद्यों में बलात्मक स्वराघात है,—प्रत्येक पंक्ति या पाद में चार—ठीक ही है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि नुंदऋषि के अनुयायियों व शिष्यों तथा घुमक्कड़ भाँड़ों, हस्तलिपिकों आदि ने पिछले दो या तीन सौ वर्षों में (नुंदऋषि के दिवंगत होने से लेकर उसके श्रुकों को लिपिबद्ध किये जाने तक) श्रुकों के साथ भी वही ज्यादती की जो उन्होंने ललद्यद के वाखों के साथ की थी। उन्होंने अधिक प्रचलित शब्दों और कभी-कभी तो अपेक्षाकृत अधिक सटीक शब्दों को ही बदल दिया जिससे छंद की आवश्यकता तो पूरी हो गई मगर उसके भाव में कोई उल्लेखनीय अभिवृद्धि नहीं हुई और इससे कुछ ऐसे पद्यों का, जो सम्भवतः ललद्यद के ही हैं, रूपाकार ही बिगड़ गया। जैसे, "क्याह करु. पांचन दे'हन त काहन ?"[3]

जो ३५ वाख 'ललवाख' और 'नूरनामों' दोनों में संगृहीत हैं, उनमें १५ से ज्यादा को मैं ललद्यद की रचनाएँ नहीं मानता। कुछ और वाख ऐसे भी हैं जिन्हें ललद्यद का तो बताया जाता है मगर उपर्युक्त अन्तर्साक्ष्य की विवेचना के आधार

१, स्टडीज इन कश्मीरी, जयालाल कौल, पृ० १७९

२. कोशुर शीराजा' अगस्त १९६६ पृ० १०-१६ खण्ड ३, नं० १ (जे. एण्ड के. अकादमी)। गांधी पीस फाउंडेशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित 'एन एंथालोजी ऑफ इण्डियन लिट्रेचर्स (सं० के संथानम्) के लिए श्री जयालाल कौल द्वारा अनूदित।

३. एल. वी. ९० इसे एन. एन. २१७ से मिलाइए।

पर उन्हें प्रायः ललद्यद का नहीं माना जा सकता। ऐसे वाखों को मैंने परिशिष्ट में मूलपाठ पर टिप्पणी[1] शीर्षक के अन्तर्गत सूचीबद्ध किया है और लगभग १२० वाखों को युक्तिसंगत आधार पर इस सूची में सम्मिलित नहीं किया है। इसी प्रकार श्री जलाली के ३२[2] वाखों को अप्रामाणिक मानकर मैंने उन्हें भी अस्वीकार किया है। यद्यपि सम्पादक महोदय के शब्दों में, "इस संग्रह के ३८ वाक्य, जो अब तक प्रकाशित नहीं हुए थे, एक महात्मा से उपलब्ध हुए थे।" इन्हें मैंने इसलिए स्वीकार नहीं किया क्योंकि (ललद्यद के समान) कुछेक मुहावरों या शब्दों के प्रयोग को छोड़कर ये (पद्य) रहस्यवादी चिन्तनधारा की अत्यन्त अव्यवस्थित व दूषित अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनकी रचना किसी 'धर्माचारी व पुण्यशील' कश्मीरी पंडित साधु द्वारा की गई लगती है। पं० आनन्द कौल के ७५ वाखों के संग्रह में भी इस प्रकार के कुछ अस्पष्ट और अतिसामान्य पद्य मिलते हैं। उदाहणार्थ—(अ) पद्यसंख्या १० को लीजिए—

न मैं कुछ हूँ और न मैं कुछ थी
मगर, इसी अनस्तित्त्व में कुछ पा गई,
शिव को पूजा, विष्णु को देखा
मगर, इसी अनस्तित्व में कुछ पा गई।

(हिन्दी भावानुवाद अनुवादक द्वारा)

या (आ) पद्य-संख्या ५७ को लीजिए जिसमें न केवल ललद्यद-विषयक मान्यताओं का विरोध मिलता है अपितु ऐसी बातों का भी उल्लेख है जिनकी रचना की आशा शैवानुगामिनी होने के नाते ललद्यद से नहीं की जा सकती। जैसे, गृहस्थ बनने का मतलब सिर पर "विपत्तियों का पहाड़ टूटने के बराबर है।" इसी प्रकार फारसी के कुछ विशिष्ट शब्दों—'बदबोय', 'दारोग-जो' आदि के प्रयोग की कल्पना ललद्यद से नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसे शब्द ललद्यद के समय में प्रचलित रहे होंगे, इसमें सन्देह है। या (इ) पद्य-संख्या ४७ व ४८ की आंशिक स्पष्टता व आंशिक अस्पष्टता द्रष्टव्य है। यहाँ पर संख्या ४८ का अनुवाद दिया जा रहा है—

इधर भी वह, उधर भी वह
स्वयं वह अपने से मिलता नहीं,

१. कृपया अन्त में देखें।
२. अन्यत्र उल्लिखित।

कवि
प्र

एक दाना भी उसमें समा सकता नहीं
श्रीमान् है ना यह विचित्रता महान्।
(भावानुवाद अनुवादक द्वारा)

"वास्तव में, महान् विचित्रता है ! मगर, श्रीमान्, इस सब का आशय क्या है ?" कोई हमें समझाये भला !

या (ई) पद्य-संख्या ६२ की कृत्रिमता देखिए—

मात्र शिव-शिव कहने से
शिव प्रसन्न होंगे नहीं,
उसे मन में बसाओगे यदि सदा
तो तुम्हारी यह देह गलेगी घी-समान,
फिर उस घी से देह को पुष्ट करना, और
यदि उसे घी का उपयोग न कर सको
तो उसे किसी अन्य को देना
(भावानुवाद अनुवादक द्वारा)

यह निश्चित रूप से ललद्यद का स्वर नहीं है। उसके सृजन में तो "ऊष्मा (प्राणवत्ता) है, स्फूर्ति है, उमंग है और है[1] चित्रमय अप्रस्तुत-विधान की सक्षम-सम्पन्न नियोजना। उपर्युक्त पद्यों में तथा ललद्यद के साथ जोड़े गये शताधिक अन्य पद्यों में इस ऊष्मा की एक चिनगारी भी देखने को नहीं मिलती और न उनमें बुझती राख की-सी गरमाहट ही है। वे तो राख-दान की ठण्डी राख के समान तापशून्य हैं।

---

१. 'कोशुर शीराजा' अगस्त, १९६६ पृ० ११ रहमान राही व आर. सी. टी., पृ० १६५

अध्याय : तीन

ललवाख : वर्ण्य-विषय

सुय मस मे' ललि चव पनु.नुय वाख
मैं (लला) ने अपने ही वाखों की मदिरा पी ली।

पिछले अध्याय में मैंने ललवाखों के मूलपाठ पर विचार किया और शताधिक वाखों को इसलिए अस्वीकार किया क्योंकि वे संदिग्ध पाये गए। यदि अन्तर्साक्ष्य के पूर्वोक्ति मानदण्डों का और भी अधिक नियमनिष्ठापूर्वक पालन किया जाए तो कुछ और वाखों को अस्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार वाखों की कुल संख्या १०० से अधिक न बैठेगी। ललद्यद के इन प्रामाणिक वाखों के आधार पर, चाहे वे ८० से लेकर १०० के बीच ही क्यों न हों, हम इस सन्त कवयित्री के जीवन तथा उसकी आध्यात्मिक उपलब्धियों के क्रमिक विकास का अन्दाज लगा सकते हैं। इसके अलावा इन वाखों में उल्लिखित तथ्यों को क्रमबद्ध कर हम उसकी अध्यात्मिक जीवन-यात्रा के साथ-साथ उसके दर्शन, उसके सन्देश तथा जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को भी समझ सकते हैं।

सबसे पहले यह निर्दिष्ट कर देना उचित होगा कि ललद्यद के उपलब्ध वाखों को किसी निश्चित आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास अब तक नहीं हुआ है।[1] ललद्यद ने अपने वाखों की रचना साहित्य अथवा दर्शन-शास्त्र की समृद्धि हेतु नहीं की और न ही परवर्ती सन्त-गायकों की तरह संकीर्तन अथवा भजन-मंडलियों के उपयोग के लिए इन वाखों को लिखा। स्वभाव से न वह उपदेशक थी और न सुधारक या प्रचारक ही। उसके पद्य, जो उसकी आत्मा से निःसृत उद्गार हैं, मुख्यतः उसकी अन्तरानुभूतियों तथा आंशिक रूप से बाह्य-जगत् के प्रति उसकी मानसिक प्रतिक्रिया के प्रतिफलन हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए उसके वाखों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है (जैसा कि इस पुस्तक के अन्त में ललवाखों का अनुवाद देते समय किया गया है) ताकि

---

१. एल. डी. को छोड़कर

कवयित्री की दार्शनिक चिंतनधारा के क्रमिक विकास का सुगमतापूर्वक परिचय प्राप्त हो सके। ललद्यद के कतिपय (बहुत ज्यादा नहीं) वाख ऐसे हैं जो कवयित्री की उस मानसिकता का परिचय देते हैं जो उसके आत्म-पीड़ाजन्य एकाकीपन की उपज है। ऐसा लगता है कि उसने अपने भीतर और बाहर तिक्तता के प्रायः एक अतीव दारुण-भाव की अनुभूति की थी तथा अपने आप को कई बार एकाकी व असहाय स्थिति में पाया था। कभी कच्चे धागों की रस्सी से समुद्र में अपनी नैया को खींचने का प्रयास किया, कभी मिट्टी के अधपके सकोरों से पानी को व्यर्थ बहते पाया, कभी गहरी खाई के मुहाने पर नाचने का प्रयास किया और ये सब इस दुःखमय संसार के सामान्य कष्ट और क्लेश नहीं हैं अपितु कवयित्री की अन्तर्पीड़ा, व्यग्रता व प्रतियोग आदि का स्वात्म-जन्य संघर्ष है :—

"ससार ने तुझे अपने मोहजाल में बाँध लिया
रे जीवात्मा, मुझे रोना आ रहा है बार-बार
लौह लंगर की भांति यद्यपि तू इससे चिपका है
तेरी मृत्यु हो जाने पर उसकी छाया तक
तेरे साथ नहीं जाएगी जिसे तूने चाहा था।"

वह उस व्यक्ति की तरह अपने [illegible] एकाकी और असहाय पाती है जो दिन डूब जाने व अ[illegible]धकार छा जाने पर नदी-पथ पर बने एक जर्जर सेतुबन्ध पर अपने आप[illegible]को विकट स्थिति में पाता है और जिसे अभी लम्बा फासला तय करना है तथा दरिया पार करने के लिए नाविक को देने हेतु जेब में एक कौड़ी भी नहीं है। उसने इस संसार को निकट से देखा और इसमें व्याप्त विभिन्न विसंगतियों, विरोधाभासों व अन्यायों को देखकर उसका अन्तर्मन विह्वल हो उठा—

"एक प्रबुद्ध को भूख से मरते देखा
पतझर में विलग हुए पत्ते की तरह गिरा पड़ा,
एक निर्बुद्धि से रसोइये को पिटते देखा
तभी से यह मन बाहर निकल पड़ा।"

काल का भय सबसे बड़ा भय है। यम के दूतों द्वारा 'देर-सवेर' अपने शिकार की रक्त-रंजित देह को घसीटकर ले जाने की तैयारी, मान-प्रतिष्ठा व धन-वैभव का मद आदि, इस सब का सही सर्वेक्षण ललद्यद ने किया है। एक स्थान पर वह कहती है—

"चँवर, छत्र, रथ, सिंहासन, अह्लाद
नाट्य-रस, रेशमी पर्यंक" आदि

व्यक्ति की मान-प्रतिष्ठा के बाह्य माप-दण्ड हैं जो अस्थिर हैं। ये सब तो उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। स्थिर अगर कोई वस्तु है तो वह है मरण-भय, जिसे व्यक्ति भूल बैठा है। वस्तुतः इस संसार में कोई भी वस्तु चिर-स्थायी नहीं हैं, कोई भी पदार्थ शाश्वत नहीं है। नित्य-परिवर्तनशीलता इस संसार का नियम है—"अभी-अभी चूल्हे को जलते देखा, अभी-अभी उसमें न धुआँ देखा न आग, अभी-अभी पांडवों की माता को देखा और अभी-अभी उसे एक कुम्हारिन के यहाँ शरणागता मौसी के रूप में देखा....।' काल की गति अबाध है और वह अपने साथ जीवन और जगत् के लिए नश्वरता का अटल सन्देश लेकर आता है जिससे मनुष्य के हृदय में अरक्षा का भाव पुष्ट होता रहता है। ऐसा लगता है मानो हम जीवन और मरण के आवर्तक काल-चक्र से बंधे हुए हैं—

"सदा से हम यहाँ आते रहे
और सदा ही यहाँ से जाते रहे
जीवन-मरण के इस चक्र में
शून्य से महाशून्य में मिलते रहे।"

मानसिक उलझन व किंकर्तव्यविमूढ़ता के कारण ललद्यद का विचार-स्पंदन उसे आत्म-चिंतन व आत्मान्वेषण करने के लिए बाध्य करता है जिसके फलस्वरूप वह दुरूह संसार के अन्तर्रहस्यों व उसके विपद् भार को जानने के लिए तरह-तरह के अवश्य प्रश्न अपने आप से करती है। यह भार हालांकि मिश्री की डली के समान हल्का है, पर वास्तव में है काफी भारी और (भौतिक सुख भोग की इच्छा के) इस भार तले उसकी कमर झुककर दुगुनी हो गई है। वह अपने मन से पूछती—

'इस सब का रहस्य है कहीं छिपा
जिसे हमें समझना होगा यहाँ।'

उक्त पद्यों से 'इस विशाल इन्द्रियज संसार' की निरर्थकता के बारे में ललद्यद की मान्यताओं का पता चलता है कि उस 'अव्यक्त-अज्ञात' को स्वयंमेव जानने की इच्छा उसमें प्रबल थी। इसी प्रबल इच्छा के वशीभूत होकर वह पुकार उठी थी—

'काश, प्रभु मेरी सुन लें
और मैं परमधाम पहुँच जाऊँ।'

ललद्यद के ऊपर निःसन्देह दैवी अनुकंपा रही, जिसे त्रिक-दर्शन में शक्ति-पात (शक्ति का अवतरण) कहा जाता है। इसी के फलस्वरूप वह अडिग निष्ठा व दृढ़ता के साथ चरम-पथ पर अग्रसर होती रही तथा कभी पीछे न मुड़ी। इस परमपथ की यात्रा को कुछ रहस्यवादी आत्म-शुद्धि का मार्ग भी कहते हैं।

उसके गुरु परमादरणीय सिद्धमोल ने उसे एक रहस्य की बात बताई थी—बाहर से दृष्टि मोड़ और अपने अन्तर को खोज ताकि उसे स्वात्म के उच्चतर स्वरूप का परिज्ञान हो जाए। गुरु के इस कथन को उसने आत्मसात् कर लिया जिसके परिणामस्वरूप उसकी काया पलट गई (**मॅगव वाख तु. वचुन**)

ललद्यद के कुछ ऐसे पद्य हैं जिनसे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का, कि ललद्यद ने किस धर्मानुशासन का आचरण किया, सुगमतापूर्वक उत्तर मिल जाता है। उसने भौतिक सुख भोग की इच्छा तथा इन्द्रिय-जन्य आनंदप्रदता से मुख मोड़कर तितिक्षा, दैन्य, कष्ट-सहिष्णुता, आत्मसंघर्ष, नैराश्य से उत्पन्न क्षोभ व मोहभंग आदि की अनिवार्यता को स्वीकार किया। इन सभी बातों का उसने अपने पद्यों में सजीव बिम्ब-योजना द्वारा यत्र-तत्र वर्णन किया है—पहले पिंजियारे की धुनाई, फिर जुलाहे की पिटाई, तत्पश्चात् धोबी द्वारा सज्जी व साबुन लगाकर पत्थर पर कुटाई और अंत में दर्जी की कटाई—यह है ललद्यद का वह अनुशासन जो रुई के रेशे से लेकर स्वच्छ वस्त्र तैयार होने तक की प्रक्रिया में देखा जा सकता है।

"और इस प्रकार मैं (लल) आखिरकार
उस परम-विभु के दरबार में प्रविष्ट हुई!"

अन्य वाखों में ललद्यद की मान्यताएं अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। उसने अपने मन-दर्पण को साफ किया ताकि उसमें निहित सत्य का निष्कलंक व निर्मल रूप मुखर हो। उसने खान-पान में संयम बरतने में मध्यम मार्ग को अपनाया। न बुभुक्षा का शमन किया और न अत्यधिक उपवास को ही अपना लक्ष्य बनाया। सिद्धियों की प्राप्ति के लिए भी वह लालायित नहीं रही। इन चामत्कारिक शक्तियों को उसने पाखंड और इन्द्रजाल मानकर उनकी अवहेलना की। राग-विराग, आसक्ति-अनासक्ति आदि से असंपृक्त रहकर वह मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, यश-अपयश, शुभ-अशुभ, लाभ-हानि, सत्-असत् तथा हर्ष-विषाद के प्रति उदासीन रही—

'शुभ-अशुभ, चाहे जो भी हो
मैं करूँगी उसे स्वीकार,
मेरे कान उसे सुनेंगे नहीं
मेरी आंखें उसे देखेंगी नहीं।'

ललद्यद ने अनासक्त और निःसंग कर्म कर उसे भगवान् के निमित्त समर्पित करने पर बल दिया—(**लागि रो'स्त पुशरुन स्वात्मस**)

व्यक्ति के औरों के प्रति व्यवहार में विनम्रता, सहिष्णुता व आत्मीयता की भावना होनी चाहिए—ऐसा ललद्यद का मानना है। संसार से पराङ्मुख होने के पक्ष में वह नहीं है। व्यक्ति-भेद व वर्ग-भेद का उसने विरोध किया और मानव मात्र के साथ खान-पान में उसने कोई दोष नहीं जाना—**अनस ख्यनस क्याह छुम द्वेष।**[1]

इस बात पर उसने विशेष बल दिया कि जो दैन्य और प्रीति के निमित्त काम, क्रोध और लोभ रूपी बटमारो (वतनोश) का वध करता है, सच्चे अर्थों में प्रभु का सेवक (**लोगुन दास**) और अन्वेषक है। जो स्व और पर में भेद नहीं करता, दोनों को समान मानता है (**सो'म मो'न**) उसे परम विभु के दर्शन हो जाते हैं।

त्रिक-दर्शन के आदेशानुसार[2] ललद्यद ने मूर्ति-पूजा की अनुशंसा नहीं की—'देवमूर्ति मात्र पत्थर है (**दीव वटा**) लगन व निष्ठा (सहभाव) से प्रभु का नित्य स्मरण करना ही 'सहज' की सच्ची आराधना है (**सद्[illegible]भाव सॉरि नॅत्य**) [illegible] पशुबलि की उसने भर्त्सना की है। इसी प्रकार तीर्थाटन, स्नानादि को [illegible] भी उसने विशेष महत्त्व नहीं दिया। यदि पवित्र जल में स्नान करने से मुक्ति मिल जाती तो भला मछली को वह क्यों नहीं मिलती ?[3]

ईश्वरान्वेषण के लिए मन में उत्कट इच्छा और लगन की भावना लिये ललद्यद रात-दिन अक्लांत व अविराम गति से साधनारत रही। अन्तर्साधना की इस प्रक्रिया में उसने अपनी शारीरिक-शक्ति की सीमाओं को भी लांघ दिया। इतना सब कुछ करने पर भी जब उसने पाया कि प्रभु का द्वार अन्दर से बंद है तो वह पीछे नहीं मुड़ी, अपितु उसकी इच्छा-शक्ति और भी बलवती हो गई और वह आशान्वित होकर प्रभु के द्वार पर—

---

१. नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादि विचारणम्(मालिनी विजय तंत्र, XVIII, पृ०७४-७६)।
२. मृच्छैल धातुरत्नादिभावं लिंगम् नो पूजयेत् यजेताध्यात्मिकं लिंगं यत्र लीनं चराचरम्। (वही पृ० २)।
३. यदि मुक्तिर्जलस्नानात् मीनानां सा न किं भवेत् (तंत्रालोक खंड III, पृ० १२०)

'घुटने टेक
सर्वस्व अर्पण कर बैठ गई।'

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि मानसिक भावभूमि पर जहाँ साधक में आत्मशुद्धि वांछनीय है वहाँ बौद्धिक धरातल पर सामान्य चैतन्य (जागृति) को स्वात्म की उच्चतर चित्-शक्ति में परिवर्तित करना भी आवश्यक है। ध्यानयोग की यह स्थिति मन को वश में कर उसकी वृत्तियों के संचरण को प्रतिबाधित करने के लिए आवश्यक है। इससे मन नियंत्रित होकर 'वायुशून्य स्थान में दीपक की तरह सत्य प्रकाशित होगा।'[१] ध्यानयोग सम्बंधी यह अनुशासन ललद्यद के अनुसार श्वास-गणना (**गं'जरिथ पनुन श्वास**) ही है जिसे वह प्राण-वायु का निरोध (प्राणायाम) कहती है—

(1) प्राणों की दिन रात सुध ले
(2) रे हठी पंडित, तू किसे पूजता ?
एकीकृत कर मन और प्राण।
(3) प्राण और अपान के पहियों पर
अपने जीवन-रथ को खींचता चल।

इस योगानुशासन [illegible] फलस्वरूप ललद्यद के अंतःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) की [illegible] हुई, उसमें समत्व व अनासक्त भाव (**लागि रो'स अद्वय मन**) [illegible] हुआ तथा मन का संचरण बाधित हुआ (**च्यथ गो'ल**) :—

(योग द्वारा) प्रतिपल दम (प्राणवायु) का अभ्यास किया
तब कहीं जाकर शून्यांतर में ज्ञानदीप प्रज्वलित हुआ,
अपनी वास्तविकता से परिचित होकर
उस अन्तर्प्रकाश को दृढ़ता से थाम लिया…।

योगाभ्यास द्वारा ललद्यद षट्चक्रों को पार कर (**शॅवन च'टिथ' शँशकल वुजुम**) जाग्रत कुंडलिनी को चन्द्रकला[२] (ब्रह्मरंध्र अथवा परमशिव के धाम) तक ले जाने में सफल हो गई जहाँ अमृतरस की वर्षा हुई और उसने अवगाहन किया तथा—

---

१. गीता VI १६
२. सहस्रार।

ओंकार शब्द के ध्यान से
लल चित् ज्योति[1] में समाहित हो गई।

इस प्रकार ललद्यद स्वात्म-प्रकाश के उच्चतर लोक में प्रविष्ट हुई—

प्रणव (ऊँकार) को स्वात्म में लय कर
योग के छह मार्गों[2] को त्याग दिया,
मात्र एक सत्पथ का अनुसरण कर
प्रकाश-स्थान को सहज में पा लिया।

प्रकाश-स्थान की यह प्रदीप्ति ही ललद्यद के जीवन की एक मुख्य घटना है, एक महान् उपलब्धि है। मगर उसकी अन्तर्साधना की यहीं पर इति नहीं होती। पंचभौतिक काया राग द्वेष की क्षुद्रताओं (अधम प्रकृति) से ऊपर उठकर स्वात्म की विशुद्ध स्फुरणाओं का इन्द्रियातीत पुंज बने और फिर शून्य शून्य से मिले (**शून्यस शून्य मीलिथ गव**), यह वास्तव में एक अपूर्व उपलब्धि है। ललद्यद के अनुसार उस नित्य-अनित्य परब्रह्म को अव्यक्त-अक्षर कहना पर्याप्त नहीं है क्योंकि सतत परिवर्तनशील जीवन और जगत् में रूप-गुण में व्याप्त प्रकृति और पुरुष की आत्माभिव्यक्ति को पृथक् नहीं माना जा सकता। वास्तव में, यह सकल दृष्यमान जगत् मिथ्या नहीं [illegible] है और न ही परम-चित् अक्रिय हैं जैसा कि वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत शंकर के 'ब्रह्मवाद' में इ[illegible] माना गया है। शैव त्रिक-दर्शन के अनुसार चित् निरपेक्ष व निर्बाध है और वह स्वच्छाश्रित [illegible] है (**चित्ति स्वातंत्र्य**)। परमात्मा या परम-शिव विश्वोत्तीर्ण व विश्वमय[3] दोनों हैं। चैतन्[illegible]स्वरूप होने के कारण शिव प्रत्येक वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित कराके ज्ञान कराते हैं, अपनी [illegible] शक्ति के साथ सदा लीलारत रहने के कारण प्रीति जगाते हैं तथा शक्ति के ऊपर वशी होने के कारण अप्रतिहत इच्छा-शक्ति भी उत्पन्न करते हैं। ललद्यद के शब्दों में वह '**चिदानंद ज्ञान प्रकाश**' है, अर्थात् मात्र चित् (शुद्ध चैतन्य) ही नहीं अपितु आनन्द भी है। इसी प्रकार परमानन्द जो त्रिक दर्शन के अनुसार पूर्ण इच्छा और शक्ति का प्रतीक है, स्वात्म प्रकाश ही नहीं अपितु स्फूर्त ज्ञान भी है जिसे त्रिक दर्शन में 'अहं-विमर्ष' (अंतःकरण की शक्ति—पराशक्ति) कहा गया है। ललद्यद ने इसका अनुभव किया था—

---

१. चैतन्य-प्रकाग
२. आणवोपाय के अनुसार छह मार्ग (षड़ध्वा) यथा, वर्ण, मंत्र, पद, कला, तत्व और भुवन। (तंत्रसार, अभिनवगुप्त पृ० ४७)
३. पी० आर० सूत्र १, पृ० ३४-३५ व १०६
४. वही, सूत्र ८, पृ० ५६, १-३

वुछुम शिवस शखु.त मीलिथ त वाह
(शिव और शक्ति को एक साथ निबद्ध देखा…)

अन्तर्साधना की इस स्थिति को पहुंचकर ललद्यद अमृतकुण्ड में निमग्न हो गई (**लय को'र मस अमृत सरस**) अर्थात् त्रिकदर्शन की शब्दावली के अनुसार परम विभु में 'समाविष्ट' होकर संलीन हो गई। शक्ति उस परम विभु का केन्द्र है—'**हृदयं परमेष्टितः।**'[1] उस परम-चैतन्य के दर्शन इन्द्रिय व इन्द्रियातीत ज्ञान द्वारा मात्र स्वानुभूति के रूप में ही नहीं किया जा सकता अपितु संसार के नाना नाम-रूपों में भी उसे देखा जा सकता है। ललद्यद उस स्वानुभूत विभु को प्राप्त कर चुकी थी जिसे त्रिकदर्शन 'अनुत्तर' अर्थात् सर्वोच्च, सर्वप्रधान परब्रह्म कहता है। वह ऐसा सवार है जो—

'शिव रूपी घोड़े पर चढ़ता है
काठी जिसकी विष्णु कसते हैं
और ब्रह्मा रक़ाब पकड़ते हैं।'

ललद्यद सर्वभूतों में एकात्मा (सहज) की परिव्याप्ति मानती थी—

चु. ना बो ना दहि ना ध्यान…
वहाँ न तू है, न मैं हूं
न ध्येय है न ध्यान,
सर्वकारक परब्रह्म भी वहाँ
हो जाते हैं अन्तर्धान।

इसी को योगी जीव और आत्मा के मिलन की चरमावस्था कहते हैं। त्रिक-दर्शन में यह अस्थायी (तावत्काल) समाधि नहीं है अपितु जीवन-मुक्ति है, अल्पकालिक विचारणा नहीं है, अपितु स्थायी आत्म-चेतनता तथा चित् के साथ प्रत्येक स्थिति में अविच्छेद्य सम्बन्ध के ज्ञान की अनुभूति है। यही वह स्थिति है जो जीव को जीवितावस्था में ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए उत्प्रेरित करती है। ललद्यद का कहना है—

'चु.य हे नारान, त यिम कम विह'

---

१. 'पर प्रवेशिका' क्षेमराज।

(१) तू ही सर्वत्र, तू ही सब कुछ
भीतर बाहर तू ही समाया
फिर कैसी है तेरी यह अद्‌भुत माया ?

(२) जो स्वात्म को पहचान गये
चित् आनंद, ज्ञान प्रकाश में रम गये
वही जीवन-मुक्त कहलाये ।

समष्टिगत चैतन्य में वैयक्तिक चैतन्य के एकात्मीकरण की अनुभूति को बहिर्जगत् के व्यक्त स्वरूप की स्वानुभूति में तिरोहित करना अनिवार्य है, क्योंकि 'इति शिवम् ।'[1] यह सब शिव है और उसी का यह सब कर्तृत्व है—**'एतद् सर्व शिवस्वरूपमेव'**[2] । ललद्यद कहती है—

'शिवमय चराचर जग पश्या…'
सभी पदार्थ—जड़ वा चेतन
असीम संसृति का यह सृजन
शिव में ही है पूर्ण निमग्न ।

और जैसाकि 'कर्मसूत्रों'[3] में वर्णित है—आवेश (आवेशवशात्) की बाध्यता से पहले बहिर्जगत् से अन्तर्जगत में और फिर अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् में मन का संचरण होता है—

'अंद्यरम प्रकाश न्यबर छों''दरम'
(तब अन्दर का प्रकाश बाहर छिटक आया)

ललद्यद के वाखों व शैव सिद्धों के त्रिकशास्त्रों में पर्याप्त एकरूपता देखने को मिलती है । (स्थानाभाव के कारण यहाँ पर कुछ और समांतर पदों को उद्‌धृत करना संभव नहीं है ।) इससे यह सिद्ध होता है कि वह निर्विवाद रूप से एक शैव-योगिनी थी । इसलिए नहीं कि उसने त्रिक दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का यत्र-तत्र प्रयोग किया है, वरन् इसलिए कि शिव के सम्बन्ध में उसकी स्वधारणा, योग की प्रविधि, उसका स्वयं का अनुभव, इन्द्रिय ज्ञान व विभावना शक्ति—ये सब त्रिक अनुशासन के अनुकूल हैं ।

सर जार्ज ग्रियर्सन और डी० आर० बरनेट इस बात से सहमत हैं कि

---

१. पी. आर. सूत्र २०
२. वही पृ० ९४,९५
३. वही पृ० ९२

ललद्यद शैवमत की कश्मीर प्रशाखा[१] की धर्मनिष्ठ अनुगामिनी थी। सर आर० सी० टेम्पल का भी यही विचार है कि उसके वाख उसे कश्मीर त्रिक सम्प्रदाय की शैव-योगिनी सिद्ध करते हैं।[२] यह आश्चर्य की बात है कि ग्रियर्सन व बरनेट ने ललवाखों की अपनी टीका में, जहाँ भी सम्भव हुआ है,[३] उसे ब्रह्मवादिनी (शंकर-वेदांतिन्) व हठयोगिनी के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। सर रिचर्ड ने तो स्पष्टतया निर्दिष्ट किया है कि—'उसने (ललद्यय ने) इस बहिर्जगत् को मिथ्या माना है।'[४] वेदान्त दर्शन से प्रतिबन्धित रहने के कारण वेदान्तवादियों ने इस दर्शन के नव्य व प्रचलित सिद्धान्तों को अपनी साधना में स्वीकार करने का प्रयास किया किन्तु उनमें कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि बहुप्रचलित अद्वैत दर्शन—जिसके अनुसार यह जगत् माया है और ब्रह्म की अवधारणा अव्यक्त-अक्रिय-अकर्तृक स्वात्म (सत्) में है, के अतिरिक्त वेदान्त का कोई रूप भी हो सकता है। यदि यह बात मान भी ली जाए कि ललद्यद कश्मीर शैवमत की अनुगामिनी थी, तो यह स्वीकार करना होगा कि यह जगत् उसके लिए कोई संभ्रम अथवा कोई उपहास-रचना नहीं थी। यह भ्रान्ति, मैं निःसंकोच कह सकता हूं, ललद्यद द्वारा अपने वाखों में उन उपमानों से पैदा हुई है जो उसने जीव और जगत् के परस्पर सम्बन्ध को दर्शाने के लिए प्रयुक्त किए हैं। ललवाखों में मुझे ऐसा कोई भी शब्द या उपमान नहीं मिला जो इस बात पर तनिक भी प्रकाश डालता कि ललद्यद इस संसार को मिथ्या मानती थी या मानव जीवन को निःसार व पापनिष्ठ समझती थी। दरअसल उसने जो कहा और जिससे ये विद्वान् गुमराह हुए कश्मीर के मुहावरे—विषमिस संसारनिस पाशस' (संसार का विषय पाश), मुहुच माया (मोहमाया) व 'भवरुज' (सांसारिक रोग)[५] हैं। यही मात्र ऐसे मुहावरे हैं जो मुझे प्राप्त हो सके और इनमें किसी एक में से भी यह ध्वनि नहीं निकलती कि ललद्यद ने इस जगत् को मिथ्या माना है। ग्रियसन ने 'मुहिच माय' का अनुवाद 'सांसारिक प्रेम' किया है और 'भवरुज' का अपनी व्याख्या में (शब्दावली खंड के अन्तर्गत) 'अस्तित्व की चाह का रोग' माना है। वस्तुतः यह उसकी स्वयं की व्याख्यात्मक टिप्पणी है, मुहावरों के सही अर्थ नहीं। जहाँ तक 'विषमिस संसारनिस पाशस' (संसार का विषय—पाश) मुहावरे और संस्कृत मुहावरे 'संसार-विष'[६] जिसका कि प्रयोग त्रिक दार्शनिकों व अन्य

---

१. एल. पी. पृ० १,१६, ७, II १४-१५
२. आर. सी. पी. पृ० १६६
३. एल. बी. पृ० २४, ३३, १०७, ११६
४. वही पृ० १६६
५. एल. बी. पद्य ६, ६७, ८
६. पी. आर. मंगालचरण श्लोक।

शास्त्रकारों ने किया है, की समानार्थकता का प्रश्न है, जयदेवसिंह की इन सटीक पंक्तियों को उद्धृत करना अनुचित न होगा—'मूलतः यह संसार विषमय नहीं है। विषमय जीव की वह निरर्थक यात्रा है जो वह परम-सत्य से विमुख व अन्तरात्मा से पराङ्मुख होकर करता है।'

ललद्यद ने कभी हताश होकर मानव-काया को तत्त्वतः पापमय वा अनिष्ट-कारी नहीं माना है। वह काया द्वारा तप-तपस्या अथवा आत्म-दमन करने के पक्ष में भी नहीं थी—

"शीत से बचने के लिए वस्त्र धारण कर
क्षुधा तृप्ति के लिए अन्न ग्रहण कर।"

देह को उसने आध्यात्मिक-विकास का एक साधन माना। वह धर्म का क्षेत्र (धर्मक्षेत्र) है—

जीते जी यदि उसे देखता नहीं
मरकर फिर उसे कैसे देखोगे ?

इसी देह में तो उस पंडित (ब्रह्म) का निवास है—**'वुछुम पंडिथ पननी गरे'** **(उस प्रभु को अपने घर में ही देखा)** यह शरीर तेजोमय व प्रकाशमय है (**तीज्ञ तय सोर प्रकाश**)।

ललद्यद की अन्तर्साधना में तापसिक-विरक्ति अथवा अन्तर्विरोध ढूंढने का मैंने पर्याप्त प्रयत्न किया, मगर मुझे केवल ऐसे दो उदाहरण मिले जिनका अर्थ यद्यपि स्पष्ट है, मगर ग्रियर्सन ने पूर्वाग्रह वश उनके अनुपयुक्त और असंगत पाठांतरों को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ—

(१) ग्रियर्सन (पद्य ७)
प्रभु, मैंने न निज को जाना
निज को छोड़ न किसी अन्य को जाना
बस, इस अधम-काया का दमन जाना।

पाठांतर—राजानक भस्कराचार्य
प्रभु, मैंने न निज को जाना
निज को छोड़ न किसी अन्य को जाना
जाना तो बस इस निज देह को जाना।

स्पष्ट है कि दूसरा पाठांतर ही अधिक सटीक और प्रसंगानुकूल है। यहाँ

१. पी. आर. मंगलाचरण श्लोक।

पर 'पर' का सही अर्थ 'सर्वोच्च' है, 'पराया' नहीं। इसी प्रकार यिकाँदिह' (यह अधम देह) 'यिकुय दिह' (एकमेव देह) का अपभ्रंश है।

(२) ग्रियर्सन (पद्य २८)

ऐसे वस्त्र धारण कर जिससे शीत भागे
ऐसा अन्न ग्रहण कर जिससे क्षुधा मिटे
रे मन, तू आत्मा व परमात्मा का कर चिंतन
अन्यथा तेरी इस काया का वन्य कौए करेंगे भक्षण।

राजानक भास्कराचार्य के पाठांतर में अन्तिम पंक्ति का अनुवाद इस प्रकार हो सकता है—

रे मन, इसे तू अपनी देह के लिए
उपदेश मानकर चल !

यद्यपि विद्वान् लेखकों का कहना है कि ललद्यद कश्मीर शैव दर्शन की परम अनुयायी थीं, मगर उन्होंने यह खोजने का श्रम नहीं किया कि क्या वास्तव में शैवमत इस जगत् को मिथ्या मानता है? और क्या वास्तव में इसके चार मनोगत—सोपान पतंजलि द्वारा प्रतिपादित 'योगसूत्र' से मिलते-जुलते हैं? त्रिकदर्शन में योग सूत्र की चर्चा मिलती है और इसकी शब्दावली का प्रयोग भी मिलता है (वैसे ही जैसे वेदान्त में सांख्य का मिलता है) मगर उसमें कुछ अपने विशिष्ट उपायों[1] व अनुशासनों का निर्देश है जिनमें 'प्राण-अपान'[2] एक है। ललद्यद का यह अनुदेश—

कर मनस त पवनस संगाठ
(मन-पवन को एकीकृत कर)

त्रिक आगम 'विज्ञान भैरव' (पद्य ६४) में यों उल्लिखित है—'**वायुद्वयस्य संघट्टात्**' और ऐसा कहा जाता है कि इस अभ्यास से योगी **समदृष्टत्वम्**' को प्राप्त करता है। सर रिचर्ड का मत है कि—"शैवचार्य इस भौतिक जगत् को माया नहीं मानते थे, अपितु शक्ति[3] के समागम द्वारा उसे शिव का 'आभास' स्वीकार करते थे। आगे चलकर सौ पृष्ठों के बाद[4] ही रिचर्ड महोदय ने अपने मत का स्वयं खण्डन किया है जब वे (अ) कि इस अभ्यास

---

१. आणवोपाय, शाक्तोपाय, व शांभवोपाय
२. तंत्रसार के. एस. टी. एस. XVII अभिनव गुप्त, पृ० ४३, II १०-११
३. आर० सी० टी० पृ० ६७-७०
४. वही० १६६

का मुख्य उपाय श्वास-निरोध-ध्यान के समय श्वास को रोकना है और (आ) कि ललद्यद ने इस बहिर्जगत् को पूर्ण मिथ्या माना है। ग्रियर्सन के अनुसार श्वास-निग्रह योग का परमावश्यक अंग है। मगर त्रिक दर्शन में ऐसा नहीं है। वहाँ 'प्राणादि का अवरोधन' हठयोग की कुंभक विधि द्वारा श्वास का नियन्त्रण नहीं है, अपितु प्राण—अपान की परस्पर तन्मयता का सहज निलम्बन है। इसी प्रकार कुण्डलिनी—जागरण की प्रक्रिया का भी त्रिक में कोई विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि वहाँ पर शैवोपायों द्वारा वह अनायास ही जाग्रत हो सकती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रियर्सन ने ललद्यद की कुछ उक्तियों की शैवदर्शन की पृष्टभूमि में सही व्याख्या नहीं की है। उदाहरण के लिए—

(अ) **'कुंबुय ब्रह्मांडस सुम गरु.'**[२] (पद्य ३४)

यहां पर ग्रियर्सन ने 'कुंबुय' का अर्थ मात्र 'कुंभक अभ्यास' दिया है जबकि राजानक भास्कराचार्य ने अपने संस्कृत अनुवाद में इसका सही अर्थ 'चित् के विमर्ष से एकाकार होना' दिया।[१]

या (ब) **'दमा-दम कौरमस दमन हाले'** (पद्य ४)

इसका अनुवाद ग्रियर्सन ने यों किया है—"शनैः शनैः अपने श्वास को श्वास नली में निबद्ध किया।' दूसरे शब्दों में यह 'भासत्रिक प्राणायाम' या सूफी—ज़िक्र है। सम्भवतः यह पंक्ति, जैसाकि प्रो० हाजिनी का मत है, इस प्रकार होनी चाहिए[२]—

"दमा दम कौरमस दमन आये"

अर्थात् धीरे-धीरे मैंने मन को निग्रह के निशाने पर रखा। यदि 'दमन' का अर्थ निग्रह मान लिया जाए तो भी इसका अभिप्राय (भस्कराचार्य के अनुसार) 'प्राण शोधन' है न कि श्वास-प्रतिदमन, जैसाकि ग्रियर्सन ने कहा है। यहां पर यह ध्यातव्य है त्रिक दर्शन यौगिक क्रियाओं से आत्मदमन व त्याग (मुक्ति) के पक्ष में नहीं है। वह प्रकारांतर से भोग में योग की संस्तुति करता है। स्थानाभाव के कारण इस चर्चा को आगे बढ़ाना उचित नहीं है। पर हां, यह बात स्पष्ट है कि त्रिक दर्शन का अनुशासन हठयोग का अनुशासन नहीं है। आचार्य क्षेमेन्द्र की निम्नलिखित पक्तियां भी इस बात की पुष्टि करती हैं—'प्राणायाम, मुद्रा व बन्ध आदि कठोर अनुशासनों के अतिरिक्त एक अन्य सुगम मार्ग भी है जिससे उक्त बेड़ियों (रूढ़ बन्धनों) से छुटकारा मिल सकता है।'[३] ललद्यद हठयोगिनी नहीं, शैवयोगिनी थी। ऊपर जो चर्चा की गई उसका मंतव्य इसी विभेद को समझाना था।

१. एल. वी. पृ० ५४
२. 'कोशिर शायरी' पृ. ३, नं०४ साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली.
३. पी. आर. पृ. ८२-८३

अध्याय : चार

ललद्यद : कश्मीरी की विधात्री

यि रसनि व्यचोरुम ती मंथरॅ

इस रसना ने जो भी उच्चारित किया, वही मंत्र बन गया।

हर अच्छा आदमी या अच्छी औरत समाज के लिए वरदान होते हैं और इस दृष्टि से ललद्यद का हम पर जो उपकार है वह बड़ा ही गहन, स्थायी और बहु-विस्तृत है। इस पुस्तक के एक अन्य अध्याय में इस कवयित्री के योगदान, उसके स्वरूप, प्रभाव आदि का सर्वांग मूल्यांकन करने का प्रयास करूँगा। यहाँ पर उसके केवल भाषा विषयक तथा साहित्यिक योगदान पर ही विचार होगा।

ग्रियर्सन के अनुसार ललद्यद के वाख कश्मीरी में उपलब्ध प्राचीनतम नमूनों के रूप में भाषा-शास्त्रियों के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र रहे हैं।[1] ग्रियर्सन के इस कथन पर विवाद की काफी गुंजाइश है क्योंकि शितिकंठ की 'महानयप्रकाश' को ललद्यद से भी पहले की रचना माना जाता है और यह रचना संभवत: १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखी गयी न कि १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में। 'महानयप्रकाश' की भाषा के बारे में ग्रियर्सन का मत है— "इस कृति में पुरानी कश्मीरी में रचित ९४ पद्य हैं जिनका अर्थ लगाना कठिन है। इनकी भाषा उस काल की है जब प्राकृत भाषाएँ अपभ्रंश के चरण में प्रवेश कर रही थीं और वर्तमान कश्मीरी का प्रादुर्भाव हो रहा था। पं० नित्यानंद शास्त्री से मुझे यह अतिरिक्त सूचना मिली कि शितिकंठ ने 'बालबोधिनी-न्यास' नाम से कवीन्द्र जगद्धर की 'बालबोधिनी' पर व्याख्या भी लिखी थी। इस व्याख्या की भूमिका में शितिकंठ ने लिखा है कि उसने इसकी रचना हैदरशाह के पुत्र हुसैनशाह[2] के राजत्वकाल में की है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि नयी खोज के अनुसार 'बालबोधिनी' के रचयिता वे शितिकंठ नहीं हैं जिन्होंने 'महानयप्रकाश' की रचना

---

१. एल. वी भूमिका पृ० ५ व ७, पादटिप्पणी।

२. असली नाम हसन शाह होना चाहिए जो १४७२ में सत्तारूढ़ हुआ।

की है।" शितिकंठ वंशावली[1] शीर्षक हस्तलिपि में 'बालबोधिनी' के शितिकंठ की वंशावली का उल्लेख और चार पीढ़ी पहले के किसी अन्य शितिकंठ का भी वर्णन है। मगर इस बात की चर्चा इसमें नहीं है कि शितिकंठ नाम के उक्त पूर्ववर्ती कवि ने 'महानयप्रकाश' की रचना की थी। शायद इसलिए कि इसमें मात्र संस्कृत के ग्रन्थों का उल्लेख है, कश्मीरी में रचित ग्रन्थों का नहीं। वैसे, अन्तर्साक्ष्यत के आधार पर भी विद्वान् महानयप्रकाश को पहले की रचना मानते हैं।

ललद्यद के वाख चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचनाएँ हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'महानयप्रकाश' और १५वीं शती के पूर्वार्द्ध में रचित भट्टावतार की 'बाणासुरवध' और 'गणकप्रशस्ट' की 'सुख-दु:खचरितम्' (जो लिपिबद्ध रचनाएँ हैं) के विपरीत वाख हम तक मौखिक परंपरा में ही पहुंच हैं और समय के साथ-साथ उनमें भाषा-विषयक पर्याप्त परिवर्तन भी हुआ है। यह भी निर्विवाद है कि इन वाखों में शैली[2] का आद्य रूप सुरक्षित रहने के कारण यह स्थिर करना कि उनमें से कुछ वाखों का मूल रूप कैसा रहा होगा, असंभव नहीं है और ऐसे कुछ वाख मिलते भी हैं जो पुरानी-कश्मीरी[3] शैली में हैं। ललद्यद एक देहातिन थी। यद्यपि ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण वह संभवत: साक्षर थी, तथापि उसकी भाषा-शैली 'महानयप्रकाश' की तुलना में अधिक चलती हुई लोक व्यवहार की भाषा थी। उसके पद्यों का छंदविधान अपेक्षाकृत अधिक शिथिल और तुकबंदी परिवर्तनीय है। इस आधार पर यह अनुमान लगाना संभव है कि ललद्यद की वाखरचना भाषागत संक्रमण की दृष्टि से पुरानी व आधुनिक कश्मीरी के बीच एक महत्त्वपूर्ण व युगांतरकारी घटना है। इन वाखों के अध्ययन से हमें यह भी पता चलता है कि शताब्दियों से भाषा ने किस प्रकार अतिसूक्ष्म रूप में अपने आप को बदला है। आज जिस रूप में भी हमें ये वाख उपलब्ध होते हैं, अपनी पुराकालीन अभिव्यक्ति-शैली व विशिष्ट उच्चारण-संस्थिति के बावजूद, समझने में बड़े सरल और आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक दिखते हैं। इस आधार पर यदि उन्हें आधुनिक कश्मीरी के प्राचीन नमूने कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। कश्मीरी भाषा के इतिहास में यह ललद्यद की भाषा-विषयक देन मानी जाएगी।

ललद्यद की श्रेष्ठता केवल इस बात में नहीं है कि आधुनिक कश्मीरी कवियों में कालक्रम की दृष्टि से वह प्रथम स्थान पर आती है वरन् इसलिए है कि वह आधुनिक कश्मीरी भाषा और साहित्य की विधात्री है। कवयित्री के रूप में

१. यह सूचना मुझे रिसर्च डिपार्टमेंन्ट, श्रीनगर के हेड पंडित श्री दीनानाथ यछ से प्राप्त हुई।
२. एल. वी. पृ० १२८-१४३
३. एल. वी. क्रमांक १, २, ६, ९, १०, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २२, २३. ३३, ४७, ६३, ६४, ७०, ८९, ८१.

अपनी साहित्यिक विधा वाख-रचना में (तथा वैसे भी) वह आज तक अतुलनीय रही है। मैं जानता हूं कि इसे अतिशयोक्ति समझा जायेगा क्योंकि आधुनिक भारतीय साहित्य के महाकवियों का अमूल्यांकन करने के लिए हम प्रायः अलग मानदण्डों को अपनाते आ रहे हैं और अन्य कवियों के लिए अलग मानदण्डों को। मैं अपनी इस असमर्थता को भी भली प्रकार समझता हूं कि मेरे पास अलग से ऐसी कोई भाषा नहीं है जो ललद्यद के वाखों के प्रयोजन व प्रभाव को सही ढंग से रेखाँकित कर सके। मैं ललद्यद के तीन पद्यों का उनके शाब्दिक अर्थ के आधार पर विश्लेषण करने का प्रयास करूँगा ताकि जहाँ तक संभव हो उसकी कविता की प्रशस्ति में मात्र विशेषणों का प्रयोग न कर उसका ठोस व सही मूल्यांकन किया जा सके—

१. मिश्री की गठरी की गाँठ ढीली पड़ गई
यह देह भी कमान के समान झुक गई
(अब यह भार भला कैसे उठा सकूँगी !)
ऊपर से गुरूपदेश को भी कड़ुआ जान अवहेलना की
अब तो मेरी हालत बिन-गड़रिए के रेवड़-सी हो गई।

मैंने जान-बूझकर इस पद्य के मात्र शब्दानुवाद को ही प्रस्तुत किया है। ललद्यद इस पद्य में क्या कहना चाहती हैं, यह द्रष्टव्य है। वह मिश्री की गठरी को रस्सी से बाँधे ले जा रही थी। इस बीच रस्सी की गाँठ ढीली पड़ गयी और अब उस बोझ को सुगमतापूर्वक ढोना उसके लिए कठिन हो गया। गठरी के भार को वहन करने के लिए उसे अपनी कमर को काफी झुकाना पड़ा। दूसरे शब्दों में वह भोग-विलास की स्वत्व-भावना के भार को अपने कंधों पर लिये इस संसार में आनंदमग्न होकर डोलती-फिरती रही। मगर बाद में चेत आने पर उसका मोहभंग हुआ और मिश्री का बोझा अब उसकी पीठ को आहत करने लगा। तभी उसे गुरु की बात याद आई जिसने उसे समझाया कि यदि संसार में स्वतंत्र व ऊर्ध्वमुखी व भारमुक्त होकर चलना है तो उसे इस मिश्री के मीठे भार को फेंक देने के साथ-साथ उसके मोह को भी अपने मन से निकाल देना होगा क्योंकि आत्मानुभूति के लिए सांसारिक सुख-भोग का त्याग आवश्यक है। दुविधाग्रस्त होने के कारण उसने गुरु के इस उपदेश को पूर्णतया हृदयंगम नहीं किया जिसके फलस्वरूप गुरु का यह ज्ञान उसे फफोले की तरह यातना देने लगा और उसके जीवन को अशांत बना दिया। यही कारण है कि वह किंकर्तव्यविमूढ़ है, अस्थिर है और बिन गड़रिये के उस रेवड़ की तरह दिग्भ्रांत है जिसकी कुछ भेड़ें इस दिशा में, कुछ उस दिशा में और कुछ तीसरी दिशा में चली जाती हैं। दरअसल,

इस मोह-बंधन को त्यागने के लिए सभी इद्रियों (मन, कर्म, बुद्धि) के सामूहिक निर्णय व प्रयास की आवश्यकता है।

यह है ललद्यद की अत्यल्प बिम्बों के माध्यम से अर्थ व अर्थांतर के गौरव को अभिव्यंजित करने की अद्भुत कला जो अपनी सजीवता व जीवंतता के कारण चिरस्मरणीय रहेगी। वाखों का यह अर्थ-गौरव आज तक न न्यून हुआ है और न बासी पड़ा है। ये वाख हमारे प्रखर मनोभावों के सहज अंकन हैं जो कवयित्री की संतापजन्य आत्मानुभूति का प्रतिफलन हैं तथा पाठक के मन पर अखंडनीय प्रभाव छोड़ते हैं।

२. चर्म को काटकर तूने
चारों ओर शरीर में खूंटे गाड़े
(कठोर साधना से अपने को कष्ट पहुंचाया)
अपने भीतर ऐसा कोई बीज नहीं बोया
जिससे कुछ फल मिल जाता···

मृत चर्म और प्राणदायक बीज के बीच वैषम्य यहाँ द्रष्टव्य है। चर्म का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यह हो सकता है कि उससे परिधान बनाया जाये, उसे सिझाया जाए या रंगा जाए। मगर उस मृत जानवर में पुनः प्राण-संचार किया जाए, यह संभव नहीं है। इसके विपरीत, बीज के दाने में पौधे, अन्न या फलयुक्त पेड़ के रूप में जीवित हो उठने की क्षमता है। यद्यपि ये पंक्तियाँ प्रत्यक्षतया किसी अन्य व्यक्ति को ज्ञानोपदेश देने अथवा डाँट-फटकार सुनाने के लिए सम्बोधित की गई हैं, तथापि वे कवयित्री के स्वयं के साथ प्रतिवाद को अभिव्यंजित करती हैं। वैसे भी ललद्यद कभी-कभी अपने पद्यों में एक कोमल-आघात व प्रस्फुरण उत्पन्न करने के लिए प्रश्नवाचक शैली का प्रयोग करती है जिसमें सम्बोधन की आत्माभिव्यक्ति देखने को मिलती है, जैसे—हा मालि, नाथा, हा चित्ता आदि। उपर्युक्त पंक्तियों में कवयित्री दो विकल्प सामने रखती है। मनुष्य क्या बनना चाहता है—चर्म प्रसाधक या खेतिहर? क्या वह केवल हाड़मांस की बनी उस काया की कामना करता रहेगा जिसमें सांसारिक इच्छाओं की खूँटियाँ ठोंकी गई हैं या फिर ईश-स्मृति के प्राणदायक बीज का रोपण कर उसके आध्यात्मिक आनंद का सुफल प्राप्त करना चाहेगा? ललद्यद के उक्त पद्य में विचारों का ऐसा कोई पिष्टपेषण अथवा शैथिल्य नहीं है जो इस प्रकार की धार्मिक कविता में प्रायः देखने को मिलता है और न ही उसमें ज्ञान का आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन अथवा रहस्यवादी कवियों की तरह नैतिक उपदेश की भरमार ही है। ललद्यद के पद्यों में कोरी चिंतनशीलता नहीं है, वरन् वे कवयित्री की प्रखर मेधा शक्ति का भान कराते हैं।

३. अभ्यास द्वारा सविकास में
जव सगुण का हो जाता है लयीकरण
तव सगुण और गगन एक हो जाते
शून्य भी हो जाता नाम-शेष
वना रहता है मात्र अनामय—
रे पंडित, यही है केवल एक उपदेश ।

मैंने इस अनुवाद में संस्कृत के कतिपय प्रचलित व पारिभाषिक शब्दों को यथावत् प्रयुक्त किया है क्योंकि उन्हें समझना कठिन नहीं है । इन पंक्तियों में कवयित्री ने अत्यल्प शब्दों में ईश्वरानुभूति का परिचय देकर प्रायः एक असंभाव्य प्रक्रिया की ओर निर्दिष्ट किया है । सविकास अर्थात् इस चराचर सृष्टि के विस्तार को लयीकृत करना साधना की ऊर्ध्वगामी स्थिति है,-अधोगामी नहीं और इसके लिए सतत प्रयास व उद्यम की आवश्यकता है । इस स्थिति को पहुंचकर यह नाना नाम-रूप उपाधियों से युक्त संसार शून्य में तिरोहित हो जाता है और यह सब अनायास व अनपेक्षित रूप से पूर्ण घर्षण के साथ जैसे जलाशय में मेघ-विस्फोट होता है या वेगवती जलधारा के साथ अन्य जलधारा मिलती है, हो जाता है। (यहाँ पर त्रटा शब्द की अनुरणनात्मकता द्रष्टव्य है) अनामय—जो परम विभु है, निर्गुण-निरंकार से भी परे है, सर्वव्यापी होते हुये भी वह इन्द्रियातीत है । उपर्युक्त पंक्तियों में रहस्यमय अनुभूतियों की सहज-सजीव अभिव्यंजना देखने को मिलती है जिसे कवयित्री ने भाव-विभोर होकर पूर्ण स्पष्टता के साथ 'अनुभव' किया था ।

उक्त विश्लेषण यह स्पष्ट करने को पर्याप्त है कि ललद्यद की कवयित्री प्रतिभा द्वारा काव्य में रससिद्धि का उन्मेष कितनी सहजता के साथ हुआ है । वस्तुतः मात्र विचार या अनुभूतियाँ काव्य नहीं हैं । वे काव्य तब कहलाते हैं जब कल्पना के संस्पर्श से उन्हें मूर्तिमत्ता प्रदान की जाती है और वे साकार हो उठते हैं । सटीक कल्पना के सन्निवेश से ललवाखों का गूढ़ आध्यात्मिक चिंतन शब्द-प्रतीकों का अवलम्बन पाकर अनुभवसिद्ध संवेदना में ढल गया है । इन वाखों की सार्थकता दूसरे रूप में भी है । इनका बार-बार पारायण करने पर ऐसा लगता है जैसे मन में श्रद्धाभाव का उदय होकर आत्मशुद्धि के साथ-साथ गहन आत्म-चेतनता का जागरण अबाध गति से हो रहा हो । यही कारण है कुछ धर्मनिष्ठ लोगों ने इन वाखों में से कुछ को चुनकर उनका अपनी धार्मिक-साधना में मंत्रों के रूप में जप किया है । यह इन वाखों की उस प्रगल्भ रूपांतरण शक्ति का ही परिणाम है जिसके कारण उन्हें मंत्र तक माना जाता है । अन्य मंत्रों की तरह इनमें

भी प्राणोदित करने की शक्ति व आत्मा को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता है और यही ललद्यद का तप व तेज तथा 'परमानुभव' व आभास है।

वाखों की अभिव्यक्ति शैली और वर्ण्य-विषय का जो विवेचन ऊपर किया गया उसे मापदण्ड बनाकर यह सरलतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है कि ललद्यद के कौन-से वाख संदिग्ध हैं और कौन-से असंदिग्ध और जो वाख शैली व वर्ण्य-विषय की दृष्टि से उक्त मानदण्ड पर खरे उतरते हैं वे ही प्रामाणिक वाख हैं, शेष नकली एवं कूटकृत।

ललवाखों के अध्ययनोपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीरी भाषा को दार्शनिक विचारधारा का उपयुक्त माध्यम बनाने के लिए इन वाखों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। उनमें संस्कृत के ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है जो पूर्व में कभी व्यवहृत नहीं थे और इस दृष्टि से वे नितान्त नये शब्द माने जायेंगे। इसके अतिरिक्त इन शब्दों को अपेक्षाकृत बृहत् अर्थ-संदर्भ में प्रयुक्त किया गया और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि अधिकांश संस्कृत शब्दों का रूप-परिवर्तन कर उन्हें आधुनिक कश्मीरी के अनुकूल बनाया गया जिससे कश्मीरी के शब्द-भंडार में खूब समृद्धि हुई। उदाहरणार्थ **'लोह् लंगर'** (लोहे का लंगर) सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति के भाव के लिए, **'सॅकिलूर वुठु न्य'** (रेत की रस्सी बनाना) निरर्थक प्रयास करने के लिए, **'वतनाश'** (राहजन) काम, क्रोध, लोभ व मद के लिए, 'देल्य त्रावन्य' (दामन फैलाना) तथा निष्फल व अप्रभावी प्रयास के लिए **'दुमटस रीज्य'** (मोटे शिला खंड पर कंकर फेंकना) आदि ऐसे शब्द-प्रयोग हैं जो अपनी अर्थ व्यंजना व सटीक बिम्ब योजना के कारण स्मृति पटल पर चिरांकित हो जाते हैं। अप्रस्तुत-विधान के लिए कवयित्री ने जो वस्तु-व्यापार चुना है वह हमारे आस-पास का होने के कारण चिरपरिचित है, जैसे—नदी, नाव, सेतुबंध कपास, बिनौला, बाग, बगीची, केसर का खेत, जल, हिम, धोबी की धुलाई, लोई (पट्टू) का माँड़ना, भेड़-बकरियाँ, लुनाई-बुवाई, बैलों की जोड़ी आदि।

वाख प्रायः चार पंक्तियों का एक सारगर्भित, सूत्रात्मक, स्वतन्त्र तथा अपने आप में एक पूर्ण पद्य हैं जिसमें एक पद्य का भाव दूसरे पद्य से यदाकदा ही मिलता है। कुछ ऐसे भी वाख हैं जिनका टेकपद एक जैसा है और कुछ ऐसी भी हैं जो प्रश्नोत्तर शैली में हैं। (ऐसे वाखों में परस्पर अन्तर्संबन्ध का होना स्वाभाविक है।) ललद्यद के वाखों की प्रत्येक पंक्ति भावव्यंजकता की दृष्टि से परिपूर्ण हैं तथा वह दूसरी पंक्ति पर आश्रित नहीं हैं। प्रत्येक पंक्ति अपनी भाव-सघनता व मार्मिकता के कारण लोकोक्ति का-सा प्रभाव छोड़ती है। ललद्यद का छंद-विधान 'महानय-प्रकाश' (जो भारतीत मात्रिक छंदशास्त्र के आधार पर निबद्ध है) से भी ज्यादा लचीला है। ग्रियर्सन के अनुसार कश्मीरी में मात्राओं पर बलाघात देने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है और इस दृष्टि से ललद्यद के पदों में प्रत्येक पाद में

चार स्वराघात मिलते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि चार पंक्तियों की इन चतुष्पदियों में एक विचार पूर्णरूपेण सार्थकरूप से अभिव्यंजित हुआ है।

ग्रियर्सन ने इन वाखों को गीत[1] कहा है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि प्रत्येक काव्यांश या किसी भी गद्यांश को संगीतबद्ध करके गाया जा सकता है। यानी उसे गीत में ढाला जा सकता है। मगर ललद्यद के वाख उस रूप में गेय (गीत) नहीं है जिस रूप में गुरु नानक की 'गुरुबानी' या मीरा के भजन या दूसरे भक्त कवियों की रचनाएँ हैं। 'वाख' कश्मीरी संगीत 'छकरी' या 'वचन' की तरह गेय नहीं हैं जिनमें टेकपदों की विशेष महत्ता रहती है। ललद्यद के वाख चूंकि मुख्यतः विचारप्रधान व हृदयस्पर्शी हैं अतः उनमें संगीतात्मकता का तत्त्व न्यून है। वे श्रोता को मनन-चिंतन करने पर मजबूर करते हैं, उसे गाने पर नहीं। वैसे इसका यह मतलब नहीं है कि इन वाखों में हमें भावविभोर करने की क्षमता नहीं है।[2]

---

१. एल. वी. प्रस्वावना पी. वी.

२. एल. वी. ७, ८, ४४, ६७, ६५, ६६, ६७, ६८, १०५, १०६, १०८

अध्याय पाँच

ललद्यद : देशकाल और परिस्थितियाँ

त्युथ क्याह् वव्योथ फलिहिय सोव
तूने ऐसा क्या बोया था
फल जिसका प्रचुर मिल जाता ?

मैं ललद्यद के वाक-साहित्य व उस काल का जिसमें कि वह जीवित थी, में परस्पर कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाया हूँ। प्रगति-शील विचारधारा के दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध को 'साहित्य और समाज का सम्बंध' कहा जाता है और ललद्यद के कृतित्व के सन्दर्भ में इस सम्बंध को खोजने का प्रयास करना निरर्थक और अनावश्यक है। मुझे लगता है कि इस अध्ययन के लिए अधिक उपयोगी यह होगा कि पहले उन सभी साहित्यिक परंपराओं को खोजा जाए जो कश्मीर में प्राचीन काल में प्रचलित अथवा अप्रचलित थीं। इसके लिए 'महानय प्रकाश' या उससे भी पूर्व की उन स्फुट सूक्तियों का अध्ययन करना होगा जो शैवागमों व उनके ऊपर लिखी गई टीकाओं में मिलती हैं। मुझे विश्वास है कि इससे न केवल प्राचीन कश्मीरी साहित्य को समझने में सहायता मिलेगी प्रत्युत् जो साहित्य हमें आज उपलब्ध है उसके क्रमिक विकास व ऐतिहासिक परिदृष्य का सिंहावलोकन कर हमारा ज्ञानवर्धन भी होगा। ऐसा करने पर हम ललद्यद की रचनात्मक प्रतिभा का उसके देशकाल की पृष्ठभूमि में, यानी उन प्राचीन साहित्यिक परंपराओं, साहित्येतर घटनाओं व अन्य प्रभावों के सन्दर्भ में सही अन्वेषण कर सकते हैं।

कतिपय आधुनिक लेखक, जो अपनी जगह सही हैं, ललद्यद और कश्मीरी की परंपराओं के बीच कोई सम्बंध ढूँढ़ने मात्र से संतुष्ट नहीं हैं। उनका ध्येय अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाकर ललद्यद और उसके काल की राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों का अन्वेषण करना है और यह काल निश्चित रूप से उथल-पुथल और अशांति का काल था। ये विद्वान यह मानकर

चलते हैंकि ललद्यद अपने समय की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग थी। इससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि ललद्यद ने अपने समय में सामाजिक-परिवर्तन की प्रक्रिया में विशेष योगदान करने में महत्वपर्ण भूमिका निभायी होगी। उसने मुख्यतः दो विचार-पद्धतियों—शैवमत के त्रिक दर्शन और इस्लाम के सूफीमत का परस्पर सुन्दर समन्वय किया ओर इस संश्लेषण को बाद में भक्त-गायकों ने काव्यमय प्रवचनों के रूप में जनता में प्रचारित किया।[१] कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक विचार है कि—" यद्यपि वह (ललद्यद) मूलतः हिन्दू थी तथापि उस पर सूफी विचारधारा का यथेष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। कश्मीर के मुसलमानों का प्रायः यह दृढ़ मत है कि शाह हमदान व अन्य मुस्लिम सतों के सम्पर्क में आने के पश्चात् ललद्यद के पद्य मुस्लिम विचार-चिंतन-प्रधान हो गये। डॉ०आर०के० पारिमू की पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन कश्मीर' (१३२०-१८१८) जिसे प्रायः एक प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ माना जाता है, में उक्त मत के पुष्टीकरण में इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता है—" उसने हिन्दूधर्म में व्याप्त विकृतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों व अज्ञानता के विरोध का प्रचार किया (पृ० १०७)···। उसने शैवधर्म का यह कहकर विरोध किया कि उसका व्यवहार ऐसे तांत्रिक गुरुओं द्वारा किया जाता है जो पहुँचे हुए ऐन्द्रजालिक मात्र हैं···वह कश्मीर की पूर्वकाल की सुविख्यात समाज-सुधारक थीं···(कुल मिलाकर) उसने वैदान्त और सूफीमत के बीच तथा नेक हिन्दू व नेक मुसलमान के बीच सामंजस्य का पाठ पढ़ाया।"

ऊपर जो कुछ गया है यद्यपि उस पर विस्तार से विचार करने की यहाँ पर गुंजाइश नहीं है, पर हाँ, उसका खण्डन अवश्य किया जा सकता है।[१] त्रिक दर्शन और सूफीमत का ललद्यद ने समन्वय किया, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। कम से कम ललद्यद के वाखों में ऐसा कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। सर रिर्चड टेंपल[२] का यह मत—"सूफियों का गूढ़ ज्ञानवादी विचार-सप्रदाय रूढ़िवादी न होकर अत्यधिक उदार व विभिन्न-दर्शनग्राही था, वह वाह्य प्रभावों विशेषकर योरोपीय व ऐशियाई प्रभाव व हिन्दू चिंतन पद्धति से अनुप्राणित रहा, परमात्मा से तादत्म्पय स्थापित करने में उस (सूफी) मत ने प्रायः वही रास्ता अपनाया जो पूर्ववर्ती हिन्दू सतों ने अपनाया था और इस दृष्टि से साधना की उनकी यह परिपाटी हिन्दू-योग के काफी निकट लगती है", सिद्ध करता है कि (लेखक के ही शब्दों में) "यह सब विचार और व्यवहार में इतना भारतीय लगता है कि हिन्दू धर्म दर्शन के अग्रगण्य प्रणेता इसे आत्मसात् करने को प्रस्तुत रहे।"

१. 'डाटर्स ऑफ वितस्ता' प्रेमनाथ बज़ाज, पृ० १२६
२. आर. सी. सी. पृष्ठ ७६-८१

प्रश्न यह है कि भारतीय लगने वाली इस प्रक्रिया को विचार व व्यवहार के स्तर पर आत्मसात करना ही धार्मिक-विचार--धारणाओं का संश्लेषण कहलायेगा ?सर रिचर्ड टेम्पल सम्भवतः अपने पक्ष में यह तर्क देना चाहते हैं—"श्वास-निरोध के सम्बंध में नक्शवन्दी अभ्यास भी प्रचलित था जो निश्चित रूप से हिन्दू शैवमतावलम्बियों के ही यौगिक अभ्यास का स्मरण कराता है। इसका कारण यह है कि नक्शबंदी और सूफी संतों ने प्रायः इस सिद्धांत का प्रतिपादन कि आत्मा एक है जो कई मनुष्य-जन्म धारण करती है तथा शरीर-त्याग (मृत्यु) के पश्चात् पुनः नये शरीर को धारण करती है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापी होने के कारण प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। चूंकि उन्होंने गहन व सतत साधना को आवश्यक माना, अतः ललद्यद यद्यपि शैव हिन्दू थी और उस की विचार प्रद्धति तथा भावानुभूति स्पष्टतया उसके स्वधर्म के अनुकूल थी तथापि उसमें सूफी मत की ओर झुकाव परिलक्षित होता है जो वास्तव में, हिन्दू उपनिषदों के आदर्शवाद का ही प्रस्फुरण है"[१], इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूफियों व हिन्दू धर्म के अनुयायियों में सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर पर्याप्त समानता देखने को मिलती है। उसने और भी जो कुछ लिखा है उससे इस बात पर इससे ज्यादा प्रकाश नहीं पड़ता है। उसका यह भी कहना है कि व्यक्ति की मूढ़ता और घृणा के बावजूद विचारों का यह व्यवसाय कभी समाप्त नहीं हुआ। परिणाम स्वरूप विभिन्न धर्म-सप्रदायों की विचार-पद्धतियों ने परस्पर एक-दूसरे को खूब प्रमाभित किया। वैसे, इस बात से यह कदापि प्रमाणित नहीं होता कि सूफियों की शिक्षा को ललद्यद ने पूर्णतया आत्मसात् कर लिया था[२] या फिर उसने कश्मीर में मुस्लिम-धर्मप्रचारक, फारस के सैयद अली हमदानी के सम्पर्क में आकर बड़ी जल्दी और गंभीरतापूर्वक इस विचारधारा को ग्रहण किया था। या फिर ललेश्वरी का शाहहमदान से सहयोग-सम्पर्क सूफियों और कश्मीर हिन्दू साधकों की एक-समान साधनापद्धति के कारण था।[३]

ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उसके आधार पर किसी निश्चित मान्यता पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि मात्र विभिन्न धर्म-संप्रदायों के परस्पर प्रभावों को ध्यान में रखकर ललद्यद के वाखों में गुंफित जीवन के वास्तविक तथ्यों को आधार बनाया जाए। यद्यपि ऐसा माना जाता रहा है कि उक्त विभिन्न धर्मों व संप्रदायों में मूलभूत एकता है[४], मगर वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण अथवा आधार हमारे पास नहीं है। यह सही है कि

---

१. आर. सी. टी. पृ० ५ व ६

२. वही पृ० ७६ व ८१

३. पी. एन. के. बी. पृ० ४८४

४. डी. आर. पृ० ३६६, पंक्तियां ५-६

कुछ प्रसिद्ध धर्म संप्रदायों[1] यथा, ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध व हिन्दू धर्मों में कतिपय दार्शनिक अनुभूतियों की विचित्र और आश्चर्यजनक रूप से समानता देखने को मिलती है। यह भी सही है कि सूफियों ने ईश्वरोन्मुखता के लिए निग्रह की अपेक्षाकृत अधिक शांत व सौम्य प्रणाली को प्राथमिक्ता दी और अन्य मुस्लिमेतर रहस्यवादियों की तरह अन्तरन्वेषण पर बल दिया। यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है मगर भक्ति की सर्वसमता अथवा धर्म व संप्रदाय की एकात्मकता नहीं। हम संस्कृति, वेशभूषा, खानपान, कला-शिल्प, संगीत आदि के क्षेत्रों में हुए परस्पर सम्मिश्रण की बात नहीं करते। बात है धार्मिक विचार-पद्धतियों व चिंतनधाराओं की समानता की, जो निश्चित रूप से एक भिन्न प्रश्न है।

सर रिचर्ड टेम्पल ने ललद्यद की धार्मिक मान्यताओं का मूल-स्रोत खोजने में यद्यपि खूब मेहनत की है, मगर ललद्यद पर त्रिकदर्शन के अत्यधिक प्रभाव की प्रासंगिकता (जिस प्रासंगिकता में वह पैदा हुई, बड़ी हुई और कर्म क्षेत्र में प्रवृत) हुई) को स्वीकार करना वे भूल गये। 'वर्ड ऑफ लला' में उनकी १६६ पृष्ठों की लम्बी भूमिका में उनके विस्तृत अध्ययन का पता ज़रूर चलता है मगर इस अध्ययन से प्राप्त ज्ञान द्वारा वस्तु स्थिति का सही ढंग से जायज़ा लेने में वे सफल नहीं हुए हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने तथ्यों सम्बंधी कुछ गलतियाँ भी की हैं। जैनुलाबद्दीन महान् को उन्होंने 'मूर्तिभंजक' बतलाया है (पृ० ७७) जबकि वास्तविकता यह है कि यह उपाधि उसके पिता को मिली थी। उनका यह भी कहना है ''लला पर कश्मीरियों के महान् राष्ट्रीय सिद्धमहात्मा चरार शरीफ़ के नूरुद्दीन वली का प्रभाव था (पृ० ३), जबकि प्रत्येक कश्मीरी चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान जानता है कि सच्चाई कुछ और ही है। नुंदऋषि का जब जन्म हुआ ललद्यद कम से कम साठ वर्ष की रही होगी। यह भी सन्देहास्पद है कि क्या वास्तव में, वह शाह हमदान से मिली थी और यदि मिली थी[2] तो यह उसके घर छोड़ने के ३० हिजरी वर्षों के बाद की घटना है और तब तक वह अध्यात्मिक अन्तर्साधना व दिव्य उपलब्धियों के कारण सर्वप्रसिद्ध हो चुकी थी और उस समय अपनी विचार-पद्धति व साधना-प्रक्रिया में उसने किन्हीं नवीन सिद्धांतों अथवा धार्मिक क्रियाओं को अंगीकार किया होगा, युक्ति-युक्त नहीं लगता। उसके स्वयं के वाख भी इस बात को सिद्ध करते हैं।[3] टेम्पल ने जो कुछ लिखा, अन्य लेखकों ने बिना अनुसंधान के मात्र उसका पिष्टपेषण कर डाला।

डॉ० सूफी के विचारों को भी गंभीरतापूर्वक स्वीकार करना कठिन है।

---

१. एस, एल. के. पृ० ५६-५७

२. अध्याय एक देखिए।

३. अध्याय तीन देखिए।

उन्होंने कुछ ऐसी आलोचनात्मक-दृष्टि-शून्य[1] मान्यताएँ व्यक्त की हैं जिनकी सत्यता का परीक्षण उन्होंने नहीं किया है। उन्होंने इस विषय पर भी विचार नहीं किया है कि सूफी मत ने कैसे और कहाँ तक ललद्यद को प्रभावित किया या शाहहमदान के सम्पर्क में आने के बाद ललद्यद ने जो पद्य लिखे उनमें मुस्लिम विचार धारा की छाप कहाँ तक मिलती है आदि। हाँ, अपने अनुवाद में उन्होंने ऐसे कुछ पद्य अवश्य उद्‌धृत किये हैं जो शाहहमदान-ललद्यद के सम्पर्क के पूर्व के बताये जाते हैं। उक्त मान्यता को इस आधार पर एकदम अस्वीकार किया जा सकता है कि आज तक हमें ऐसे कोई भी पद्य मिल नहीं सके हैं। ललद्यद का न केवल परिचय अपितु उसके पद्यों के नमूने पहली बार फारसी में लिखित जिस इतिहास ग्रन्थ में मिलते हैं, वह है हाजी महीउद्दीन मिस्कीन द्वारा रचित 'तारीखे-कबीर' (१९०९-१०)। इसमें दस वाखों को सम्मिलित किया गया है जिनमें से एक को छोड़ शेष 'बीबी ललारिफ़ा'[2] में भी मिलते हैं और इस प्रकार इस एक को मिलाकर कुल ग्यारह वाख हो जाते हैं। इन में से छः 'नूरनामा' में नुंदऋषि के श्रुकों के रूप में समाविष्ट हैं[3] शेष पाँच पद्यों में केवल दो ऐसे हैं जिनमें डॉ० सूफी के अनुसार 'मुस्लिम विचार-पद्धति का प्रभाव देखने को मिलता है। एक में "शैतान" का और दूसरे में 'मोरिफातुक सोदुर' (ब्रह्मज्ञान-समुद्र) का प्रयोग हुआ है। इन दोनों वाखों में उक्त प्रयोग निश्चित रूप से प्रक्षेपक लगते हैं। अध्याय दो में उल्लिखित मानदण्डों के आधार पर इन ग्यारह वाखों में से एक भी वाख ललद्यद का प्रमाणित नहीं होता और यदि प्रमाणित हो भी जाए तो भी इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि ललद्यद ने मुस्लिम धार्मिक-पद्धति को आत्मसात् कर लिया था। इसके अलावा हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ ललद्यद ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, वहाँ उसने पशुबलि, तीर्थाटन और धर्माचार के बाह्याडंबरों का विरोध किया तथा कर्म और पुर्नजन्म के सिद्धांत पर विशेष बल दिया।

कतिपय विद्वानों के कुछ महत्वपूर्ण अंश उद्‌घृत किये जाते हैं जो इस प्रकार हैं— 'क' डॉ० पारिमू का मत है कि उस (ललद्यद) ने वेदान्त और सूफीमत के बीच समन्वय का प्रचार किया। 'ख' पी० एन० कौल बामजई का कहना है कि "जिस विचार-पद्धति का उसने प्रतिपादन किया वह शैव और इस्लाम-धर्म के सूफी दर्शन का सम्मिश्रण थी।[4] (ग) डॉ० काव का विचार है कि उसने शैवप्रधान

१. एम. एच. भूमिका पृ० VII

२. आर पी. एल. २५५

३. एम. एन. संख्या ११५, १४०, १८०, १९५, २१२, २१३

४. पी. एन. के. बी. पृ० ४६८

सूफी दर्शन के समन्वित रूप का अनुसरण किया[१] और (घ) मोहीव्बुल हसन का मानना है कि शैव अद्वैतमत, पर इस्लाम के प्रभाव को देखा जा सकता है जैसा कि ललद्यद के प्रबोधन में मिलता है।[२] डॉ० मोहीव्बुल हसन ने सर रिचर्ड टेम्पल को अधिकारी विद्वान मानकर कुछ और भी विस्मयकारी उदघोषणाएँ की हैं[३] जो घूम फिर कर इस बात पर बल देती हैं कि ललद्यद में जो कुछ भी स्पष्टतया झलकता है वह उसने सैयद मीर अली तथा अन्य सूफी संतों व नुंदऋषि से प्राप्त किया था। यदि वे (डॉ० सूफी) तनिक और प्रयास व खोज करते तो उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता कि शैवमत जीवन से पराङ्मुख होने की न संस्तुति करता है और न उसका इसमें विश्वास ही है और न ही इस मत में अलौकिक प्रेम अथवा गूढ़ज्ञान के लिए सरल शब्दों के प्रयोग का प्रचलन है। इसके अलावा शैवाचार अथवा शैवाभ्यास में कोई रूखी औपचारिकता भी नहीं है।[४] जहाँ तक डॉ० पारिमू के मत का प्रश्न है, यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ललद्यद ने शैवधर्म के विरुद्ध प्रचार नहीं किया अपितु उस पर आचरण किया। ताँत्रिक-गुरुओं[५] के विरुद्ध उसके प्रामाणिक वाखों में कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है और न तत्कालीन हिन्दू समाज की न्यूनताओं और धार्मिक अन्धविश्वासों पर ही कोई प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार न सामाजिक अथवा शैक्षणिक उत्थान के बारे में ही उनमें कोई सन्देश मिलता है। उसके वाखों में किसी अप्रिय धार्मिक कृत्य का उल्लेख नहीं है और न सतीप्रथा या देवदासी प्रथा का ही कोई निर्देश मिलता है। प्रश्न यह है कि वह किस रूप में शिक्षा-सुधारक थी? क्या उसने मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया? या पाठ्यक्रम को बदल डाला? या फिर कुछ और किया! डॉ० पारिमू का विश्वास है कि दरअसल ललद्यद ने सैयद अली हमदानी के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया और उसने (हमदानी ने) केवल उसके कहे और किये पर अपना लेबल चिपाकर उसे इस्लाम का रूप दिया।[६] ललद्यद ने सूफियों की किसी पद्धति या हिन्दुओं के किसी संप्रदाय या पंथ को नहीं अपनाया। वह एक घुमक्कड़ चारण भी नहीं थी और न उसके वाख मात्र काव्यात्मक धर्मोपदेश ही हैं।[७] वे तो उसकी गहन अनुभूतियों के परिणाम हैं, उसकी आत्मा से निःसृत ऐसे उद्गार हैं जो देखने में मध्यम पुरुष को सम्बोधित

१. डी. आर. पृ० ३६५, पंक्ति २७
२. एम. एच. पृ० २३८
३. एम. एच. पृ० २३९ गद्यांश एक।
४. एम-एच. पृ० २३९
५. एल. बी. १०
६. आर. के. पी. पृ० १११. पंक्तियां २२-२३
७. पी. एन. के. बी. पृ० ४९२

लगते हैं किन्तु मूलतः कवयित्री के आंतरिक संभाषण[1] व आत्म-संवाद के प्रतिफलन हैं जिन में उनकी स्वयं की मनोस्थितियों व अनुभूतियों का निरीक्षण व्याप्त है।

विभिन्न विद्वानों के विचारों में व्याप्त उक्त परिभ्रांति व मतवैभिन्नय, मैं मानता हूँ, इस वजह से है कि ललद्यद के वाखों में समय-समय पर अनाधिकृत परिवर्तन होता रहा है। इस विषय पर मैंने पहले ही अध्याय दो में विचार किया है। यहां पर मैं एक गद्यांश उद्धृत कर रहा हूँ जिससे मेरा मंतव्य स्पष्ट हो जाएगा—"अपने पिताश्री के इस सतत कथन से मैं अपनी बात प्रारम्भ करना चाहूंगा कि लल के असली व प्राभाणिक वाखों की कुल संख्या साठ है जो भास्कर राजदान के संग्रह में उपलब्ध होते हैं। बाद में इन वाखों के साथ जो भी अन्य वाख जोड़ दिये गये, चाहे वे प्रकाशित हों या अप्रकाशित, उन्हें विशुद्ध नहीं माना जा सकता। यह उनकी मान्यता थी और इसी को ध्यान में रखते हुए सारे साक्ष्यों का उन्होंने मनन-विश्लेषण कर अपने वृहत्-संग्रह में से केवल ७५ वाखों को अंतिम रूप में चयनित कर लिया। इनको उन्होंने तीन अलग-अलग भागों में 'इण्डियन ऐन्टिक्वेरी' में प्रकाशित कराया। प्रथम भाग के ३३ वाख उन्हें ऐसे संग्रह से मिले जो उन्हें हांगलगौंड के किसी व्यक्ति से प्राप्त हुआ था। शेष वाख उन्होंने अनेक स्थानों में अनेक व्यक्तियों से सम्पर्क कर संगृहीत किए।[2] इन शेषवाखों में वे वाख भी शामिल हैं जो नोल्ज़ की डिक्शनरी में ललद्यद की सूक्तियाँ मानी गई हैं।[3]

ऊपर उन कतिपय भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास किया गया है जिनसे ललद्यद का व्यक्तित्व और कृतित्व समावेष्ठित रहा है और इस आधार पर उसके प्रशंसक उसे गलत या सही ढंग से उसकी प्रशंसा करते आ रहे हैं। अब मैं अपनी बात को, ललद्यद के देशकाल—वातावरण पर संक्षेप में विचार करते हुए स्पष्ट करने का प्रयास करूंगा। चौदहवीं शताब्दी का समय कश्मीर में अशांति और अव्यवस्था का समय रहा है। ऐसा समय जिसमें राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक स्तर पर युगातरकारी परिवर्तन हो रहे थे। यद्यपि हिन्दू शासन के पतन के चिह्न रानी दिद्दा १९८१-१००५, के निधन या फिर उससे भी पूर्व उत्पल वंश के राजा अवंतिवर्मन (८५५-८८३) की मृत्यु के आसपाप्त से देखने को मिलते हैं, तथापि उसका पूर्णरूपेण पतन १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में ही हुआ।

१. डी. वी. पृ० १२६
२. श्री पी. एन. के बामजई के ५ सितम्बर १९७१ को नई दिल्ली से लिखे पत्र के आधार पर।
३. के. एन. लोकोक्ति संख्या ४६ व ५६

१०वीं शताब्दी से लेकर शाहमीर (शमस उद्दीन) द्वारा कश्मीर में १३३९ ई० में मुस्लिम सल्तनत की स्थापना करने तक का समय हर तरह की पतनोन्मुखी विकृतितों का समय रहा। एक के बाद एक शासक सत्तारूढ़ होकर सत्ताच्युत होते रहे, राजदरबार कुचक्रों व कपट-हिंसाओं का केन्द्र बन गया और देश भयंकर वैमनस्य की दुर्भावना से आक्रांत हो गया। बड़े-बड़े जागीरदार, डामर और लवन्य लूटपाट, डाकाजनी आदि में लगे रहे। राजा और रानियां विषय-वासना की विकृतियों से ग्रस्त होने के साथ-साथ निदर्यी और कठोर थे। भ्रष्टाचारी कायस्थ-नौकर शाही का बोलबाला था, ब्राह्मण अपने संकुचित हित साधन में व्यस्त थे। कुछ हिन्दू शासक जो पाप से भी ज्यादा क्रूर थे,[१] ने मंदिरों व मठों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला तथा उन्हें जलाकर देवी-देवताओं की स्वर्ण-रजत मूर्त्तियों के सोने-चांदी को हथिया लिया। जनता को इन अराजक व अव्यवस्थित परिस्थितियों के फलस्वरूप महसूल की भारी मार सहनी पड़ी और सामंतों के दुराचार व वादी के आस पास के कबाइली सरदारों के आक्रमणों तले दब जाना पड़ा।

चौदहवीं शताब्दी का प्रारंभ दुर्बल मोनोवृति के शासक सहदेव(१३०१-२०)के राजत्वकाल की परिस्थितियों की तुलना में किसी विशेष उपलब्धि को लेकर नहीं हुआ। जब मध्य-एशिया के निरंकुश विद्रोही तातार-सेनानायक डलचू ने कश्मीर पर आक्रमण किया, सहदेव देश से भाग निकला। कश्मीर में अपने आठ महीने के प्रवास के दौरान एक शासक के रूप में उस 'राक्षस डलचू ने वादी को तहस-नहस कर कंगाल बना दिया और यह सुरम्य घाटी एक वीराने में बदल गई। खाने के लिए सिवा घास के लोगों के पास और कोई खाद्य-सामग्री सुलभ न रही।[२] इसके बाद रेंचन (१३२०-२३), उदयानदेव(१३२३ ३८)और कोटा रानी (१३३८-३९) से लेकर शाहमीर(१३३९-४५)के सत्तारूढ़ होने तक क्रांति और संघर्ष का एक और दौर प्रारंभ हुआ जिसमें जोनराज के अनुसार "कश्मीर का दुःख कुछ शाँत हुआ और परिस्थितियाँ थोड़ी सी ठीक हो गईं।'[३]

उक्त घटनाओं, विशेषकर डलचू के आक्रमण व विध्वंस की, ललद्यद के वाखों में कोई चर्चा नहीं मिलती है। उसने अपने वाखों में स्वानुभूति के आधार पर जो प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं, उनका सम्बंध भूख से मर रहे प्रबुद्ध से,[४] दुष्ट

---

१. राज VIII १२१-३२

२. वही

३. डी. आर. ए. जे. पद्य १६२

४. एल. वी. ८३

गुरुओं व ब्राह्मणों के व्यवहार से,[१] कुछ पतियों के लिए पत्नियाँ सुख-संपदा लाती हैं और कुछ को कुत्तियों के समान काटती हैं—[२] प्रसंग से, ऐसा कुसमय आएगा कि माँ-बेटियाँ परायों के यहाँ दिन बिताएँगी—[३] आदि विचारणाओं से रहा है। इन में से यद्यपि मात्र प्रथम को ही प्रामाणिक माना जा सकता है तथापि इनमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे अपने समय की विशिष्टता कहा जा सके। इसी प्रकार सुलतान अलाऊद्दीन (१३४३-४५), शहाबुद्दीन (१३५४-७३) कुतबुद्दीन (१३७३-८९) और सिकंदर (१३८९-१४१३) के राजत्वकाल में हुई विभिन्न घटनाओं का भी लल वाखों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा लगता है कि डलचू की निरंकुशता के समय या तो वह जन्मी नहीं की थी या फिर आयु में छोटी होने के कारण इस ओर उसका ध्यान नहीं गया। सुलतान सिकन्दर, जिसके शासन काल में हिन्दुओं के प्रसिद्ध मंदिरों को अपवित्र किया गया तथा हिन्दुओं को उत्पीड़ित किया गया, के सत्तारूढ़ होने के समय तक ललद्यद इस संसार से चल बसी थी। इसके अलावा एक देहातिन होने के कारण राजदरबार के अन्दर या बाहर की घटनाओं को जानने की प्रायः उसने चिंता भी नहीं की होगी और जैसा कि स्टेन[४] का मत है— 'इस्लाम ने अपनी बल पूर्वक विजयों से नहीं अपितु धीरे-धीरे धर्मपरिवर्तन द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त किया।' यों मुस्लिम-सल्तनत का आविर्भाव अपने-आप में राजगृह में आकस्मिक 'राज-विप्लव' से हुआ है ![५] इसके अतिरिक्त यद्यपि यह सही है कि शताब्दी के प्रारंभ में काश्मीर घाटी तथा श्रीनगर शहर में कुछ मुस्लमान घर थे तथापि यह निष्कर्ष निकालना कि उन्होंने व्यवथित रूप से कोई अल्प संख्यक[६] संप्रदाय स्थापित किया था, गलत है। मलिक हैदर ने 'तारीख-ए-कश्मीर' (१६१७-१८ ई०) में कुतबुद्दीन (१३७३-८९) के शासनकाल के बारे में लिखा है कि—"उसके काल में देश में काफ़िरों (हिन्दुओं) का बहुमत था (अक्सर ईन दियार काफिर बुदंद)' जब १३९४ में ३०० सैयदों के साथ मीर मुहम्मद हमदानी कश्मीर आए और २२ साल तक यहां रहे तो शासन व धर्म की मिलीभगत से धर्म-परिवर्तन की प्रबल लहर चली और ब्राह्मणों व अन्य धर्म-निष्ठ हिन्दुओं पर जुलम ढाये गये। अतः ललद्यद के काल में नई व पुरानी

---

१. ए. के. १७. २१
२. के. एन. नं० १०२
३. एल, वी. ९१, ९२
४. स्टेन खण्ड १ पृ० १३०
५. पी. एन के. वी. पृ० ४२२
६. पी. एन. के. बी. पृ० ४८४ व एम. एच. पृ० २३५

अथवा हिन्दू व मुस्लिम शक्तियों में कोई ध्रुवण नहीं था। मलिक हैदर के अनुमार सुलतान में 'गाहिर अज नाम-ए-इस्लाम' के सिवा और कुछ भी न था। यहां तक कि उनके पहनावे का तरीका भी कुफ्फार (हिन्दुओं) की तरह ही था।' ये सैयद अली हमदानी थे जो सैयदों पर तैमूर के अनाचार से पीड़ित होकर ७०० ? सैयदों के साथ कश्मीर भाग आए और हिन्दू पहनावे का निषेध कर ३७,००० हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन कराया तथा इस्लाम धर्म के बानी बन गये।[1] दरअसल, उन्होंने ही प्रबल धर्मांतरण की प्रक्रिया के साथ-साथ फारसीकरण को भी गति दी।[2]

ललद्यद के काल का संक्षेप में ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि यद्यपि उस काल में पूर्व काल की तुलना में अधिक अशांति और धार्मिक अव्यवस्था व्याप्त थी, तथापि बाद के दशक में कोई उपद्रव या नयी या पुरानी परंपराओं के बीच कोई प्रत्यक्ष संघर्ष देखने को नहीं मिलता है। इस्लाम अगरचे द्रुत गति से फैला रहा था, मगर तो भी अध्यात्मिक स्तर पर वह जनमानस को पूर्णतया प्रभावित नहीं कर सका और न दीर्घ-काल से चली[3] आ रही उसकी धार्मिक आस्थाओं को ही हिला सका। ग्रामीण क्षेत्रों के सन्दर्भ में, जहां हिन्दुओं में रूढ़िवादिता विशेष रूप से व्याप्त रही और जहां ललद्यद लोगों में घूमती-फिरती रही, यह विचारणीय है। 'इसके बाद भी, जब वे मुसलमान बनाये गये, उन्होंने ललद्यद के वाखों के प्रबोधन की न तो उपेक्षा की और न उसका निषेध क्योंकि सूफीमत से उसका कोई प्रत्यक्ष विरोध भी नहीं था।

ललद्यद शैव जरूर थी, मगर उसमें हिन्दू धर्म की उदारता भी थी और उसके लिए यह महत्वहीन था कि ईश्वर को किस नाम से अभिहित किया जाता है। यह वह या वह या वह (सु वा सु वा सु वा सु) हो सकता है, शिव या विष्णु, ब्रह्मा या बुद्ध हो सकता है। यदि वह मुसलमान-संतो से मिली भी तो भी उसने हिन्दुओं व मुसलमानों की धार्मिक मान्यताओं के बीच कोई भेदभाव नहीं किया (ऐसी थी वह !) हिन्दू शासन के अंतिम दिनों तक बौद्ध धर्म अपने चरमोत्कर्ष पर था और हिन्दु जनता शिव और शक्ति की विभिन्न नामों से उपासना करती थी।[4] इसी प्रकार कश्मीरियों के अन्य प्राचीन देवी-देवताओं, यथा—गणेश, सूर्य आदि की पूजा, यहां तक कि नाग-पूजा भी प्रचलित थी। कश्मीर का अध्यात्म के

---

१. पी. एन. के. नी. पृ० ४८३
२. आर के. बी. पृ० १११
३. एम. एच. पृ० २३३, २३९ व २७९
४. शारिका, राज्ञा, शारदा, ज्वाला; काली वाराही व लक्ष्मी तथा सरस्वती।

क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण योगदान उनकी मौलिक धार्मिक विचार-पद्धति—त्रिक—है। जिसे अब कश्मीर शैव-दर्शन के नाम से जाना जाता है। इस मत का अविर्भाव नवीं शताब्दी में वसुगुप्त के 'शिवसूत्रों' से हुआ था। अपनी स्पष्ट विचार पद्धति के बावजूद यह 'शैव संप्रदाय' एक विशिष्ट धार्मिक पद्धति के रूप में ही प्रचलित रहा और मात्र धर्मनिष्ठ शिक्षित पंडितों तक ही सीमित रहा।"[1] इसने वर्ग भेद के संकुचित दायरे से निकलकर जनसाधारण में धार्मिक पुनरुत्थान की उस मूलभूत चेतना को नहीं जगाया जो एक नये धार्मिक आंदोलन को जन्म दे सकती। यह बात हिन्दू मत की अधोगति को समझने के लिए आवश्यक है। इससे हमें ललद्यद की धार्मिक विचार पद्धति को समझने व उसके योगदान का अध्ययन करने में भी सहायता मिलेगी। हमें सर रिचर्ड टेम्पल के इस कथन को अस्वीकार करना होगा कि—"शंकराचार्य के कश्मीर-भ्रमण के दौरान कश्मीर शैवमत पर शंकर का दीक्षाओं का प्रभाव पड़ा जिसका प्रतिबिम्बन 'ललवाक्यानि' में दृष्टिगत होता है। यहीं से यहां के शैवाचार्यों ने परंपरागत द्वैतवाद को छोड़कर अद्वैत का प्रचार करना शुरू किया।"[2] अद्वैत दर्शन के उस महान् आचार्य ने कश्मीर-यात्रा की थी, यह आज तक प्रमाणित नहीं हो सका है। कल्हण ने अश्वघोष, नागार्जुन, भवभूति[3] जैसे उद्भट विद्वानों एवं कवियों की चर्चा अवश्य की है जो बाहर से कश्मीर में आये, मगर, उस महान् दार्शनिक (शंकर) की कश्मीर-यात्रा अथवा यहाँ के शैवों के साथ उसके शास्त्रार्थ आदि का उसने कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः त्रिक-दर्शन पर शंकर के वेदान्त का प्रभाव पड़ा, इस पर सन्देह किया जा सकता है। यह भी विचारणीय है कि न सोमनंद और न उत्पलदेव ने ही इस बारे में कुछ उल्लेख किया है। यहाँ तक कि अभिनवगुप्त (दसवीं शती) जिन्होंने वेदान्त के अविद्या-सिद्धान्त की आलोचना की है, ने भी न तो गौड़पाद और न शंकर का उल्लेख किया है। यह बात पूर्ण विश्वास व निर्भयता के साथ कही जा सकती है कि उक्त विद्वानों पर शंकर के वेदान्त का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। शैवदर्शन के अनुयायियों ने तो शैवचार्यों तथा आगमों से प्रेरणा ली न कि वेदों से। शैवदर्शन तो अपने आप में स्वभावतः वेदेतर है। कार्य-प्रणाली, पारिभाषिक शब्दावली और भाषा आदि की दृष्टि से भी इसका वेदान्त से कोई सम्बंध नजर नहीं आता। व्यवहार, स्वरूप और दृष्टिकोण में दोनों भिन्न हैं। त्रिक का अद्वैत वेदान्त के अद्वैत से एक दम अलग है। खैर, जो भी हो, एक बात निश्चित है कि शंकर की शिक्षाएँ 'ललवाक्यानि' में प्रतिबिम्बित

---

१. एस, सी, आर, पृ० १७४

२. आर, सी, सी, पृ० ३९

३. राज० I, १७३ व पी, एन, के, बी, पृ० ११७

होती हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

ग्रियर्सन[1] ने यह बात रेखांकित की है कि ललद्यद की 'शून्यस शून्य मीलिथ गव' (शून्य के साथ शून्य मिल गया), 'सहज' आदि के बार-बार के प्रयोग में रुचि[2] रही है। मगर न ग्रियर्सन और न किसी अन्य विद्वान् ने ही इन प्रयोगों में किसी असामान्य अभिप्राय की ओर इंगित किया है। अपने ज्ञानवर्धक निबंध 'मदर लल ऑफ कश्मीर'[3] में श्रीशंकरलाल कौल ने इन दोनों प्रयोगों पर क्रमशः बौद्धमत के महायान व सहज संतों के नाथ संप्रदाय का प्रभाव सिद्ध किया है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि कश्मीर बौद्धधर्म विशेषकर महायानी शाखा का प्रधान केन्द्र का[4]। कल्हण ने कुषान काल में नागार्जुन की कश्मीर-यात्रा का उल्लेख किया है। वह 'सदरहदवन' (वर्तमान हारवन) में रहता था।[5] यह संभव हैं कि शैवमत और बौद्धमत की महायानी शाखा ने परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया हो। नागार्जुन द्वारा प्रयुक्त 'शून्य की शून्य में परिव्याप्ति'[6] यद्यपि ललद्यद की पूर्वोक्त पंक्ति की भूतकालिक क्रिया का वर्तमान कालिक रूप है, मगर जहां नागार्जुन की दृष्टि सार्वभौमिक है वहाँ ललद्यद की विचारणा स्वयं की है, स्वानुभूत है। वैसे, यह विचारणीय है कि ललद्यद ने 'शून्य' का प्रयोग उस रूप में नहीं किया है जिस रूप में नागार्जुन ने किया है। त्रिक में दो शून्य का उल्लेख है—'शिव शून्य'[7], जो वेदांत के ब्रह्म की तरह अक्षर, निर्विकार, ज्ञानातीत व निराकार है और 'शून्य प्रमाता' अर्थात् 'जीव' जो इन्द्रियों और अंतःकरण के वशीभूत होकर दुविधादि में पड़कर जड़ हो गया है। यह 'शून्य प्रमाता' है जो 'शिव शून्य' में संविलीन हो जाता है जैसाकि ललद्यद ने ऊपर अपने वाख में कहा है।[8]

जहाँ तक ललद्यद द्वारा 'सहज' शव्द के प्रयोग का सम्बंध है, यह स्वीकार किया जा सकता है कि यह शब्द उत्तर भारत में प्रचलित नाथ-संप्रदाय, जिसका अनुसरण वाद में गुरु नानक जैसे संतों ने किया, के प्रभावस्वरूप प्रचारित हुआ होगा। ललद्यद की तरह गुरु नानक ने भी यत्रतत्र सहज (हिन्दी—पंजाबी सहज) और 'हक-ओमकार' का प्रयोग किया है। यहाँ पर हमें यह याद रखना होगा कि प्रथमतः नाथसंप्रदाय के प्रवर्त्तक मत्स्न्येद्र नाथ, जो कश्मीर में मछंद के नाम

१. एल, वी. पृ० २०१
२. एल, वी. पृ० २०२, II २-४ नीचे से।
३. एस. एल. के. पृ० ६७-६९
४. पी. एन. के. वी. अध्याय ४, पृ० ८५-८७
५. राज, I १७३. एस. सी. आर, पृ० १६०
६. एस. एल. के पृ० ६७
७. विज्ञान भैरव के. एस. टी. एस. नं० २४, पृ० ११०-१११
८. कृपया 'महान प्रकाश' की श्लोक संख्या २ भी देखिए।

से प्रसिद्ध हैं, को कुल या शैव का अवतार माना जाता है—(कुल प्रक्रिया अवतारकम्)[१] और दूसरा, त्रिक में सहज (संस्कृत सहज) का अर्थ है-ज्ञान, जो स्वयमेव प्रकाशित होता है और जो स्वयं की प्रकृति है।[२] अतः स्पष्ट है कि 'सहज' का विचार कहीं बाहर से आयायित नहीं हुआ है अपितु यह त्रिक की स्वयं की अवधारणा है। 'शिवसूत्र वर्त्ति का' के दूसरे अध्याय का नाम ही 'सहज विद्योदय' है।

---

१. 'तंत्रालोक' अभिनव गुप्त, खण्ड I पृ० २४
२. स्वप्रकाशात्मिका विद्या सहज : शिव सूत्र III ७ पृ० ५० के, एस. टी. एस. खंड IV

अध्याय छः

ललद्यद : एक पुनर्मूल्यांकन

तँ लि लल नाव द्राम……
तब लल के रूप में मेरा नाम विख्यात हुआ… !

ललद्यद का पुनर्मूल्याँकन आवश्यक है। मैंने ललद्यद के जन्म व मरण संबंधी संभावित तिथियों को निर्धारित करने का अपनी ओर से पूरा-पूरा प्रयत्न किया है और उन कतिपय जनश्रुतियों व दंतकथाओं का पुनर्निरीक्षण किया है जिनके घालमेल से उसका जीवन चरित आच्छादित रहा है। मैंने यह भी प्रयत्न किया है कि ललवाखों की प्रामाणिकता की सही जाँच हो और उसके आधार पर जाली अथवा अप्रामाणिक वाखों को संभाव्यता के आधार पर पृथक् कर दिया जाए। मैंने उस महान् कवयित्री के बारे में कही गई कतिपय सारगर्भित किन्तु गलत व अतिशयोक्ति पूर्ण बातों की संवीक्षा इसलिए की है ताकि ऐसी सुप्राप्य धारणाओं के आधार पर उसकी छवि को निर्धारित करने का प्रयास बंद हो।

मत-मतांतरों के ऊहापोह से निकलने के बाद यह प्रश्न उठ सकता है कि ललद्यद का, वास्तव में, क्या महत्त्व अथवा योगदान रहा है ? कश्मीरी भाषा साहित्य की विधात्री के रूप में उसके योगदान पर अध्याय चार में विचार किया जा चुका है। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि यद्यपि कश्मीरी का इतिहास अतीव पुराना है और कल्हण ने कश्मीरी के प्राचीनतम नमूने[1] को लिपिबद्ध किया है तथापि ललद्यद को समुचित आधार पर आधुनिक कश्मीरी की जननी स्वीकार किया जा सकता है। उसकी श्रेष्ठता केवल इस बात में नहीं है कि आधुनिक कश्मीरी कवियों में कालक्रम की दृष्टि से वह प्रथम स्थान पर आती है, अपितु इसलिए कि काव्य की प्रतियोगात्मक व परिपृच्छात्मक प्रवृत्ति की आधुनिक विशेषता के कारण भी वह अतुलनीय है। **उसकी कविता आधुनिक इसलिए है**

१. रंगस हुंल, दिनु (हेलु-ग्राम रंग को दिया जाए) राज० V ३९७-९८-९७८

क्योंकि वह आज भी जिन्दा है। उसने हम कश्मीरियों को हमारी मातृभाषा के स्वर दिये तथा हमारी जाति को नव-चेतना की स्फूर्ति दी। यद्यपि उसके बाद कश्मीरी को राजकीय प्रश्रय नहीं मिला तथा फारसी के राजभाषा बनने के कारण उसका वर्चस्व ढीला पड़ गया तथापि वह पूर्णतया विलोपित नहीं हुई क्योंकि उसे जनसाधारण का संरक्षण प्राप्त था जिसमें उसने अपनी गहन संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया। यही वजह है कि आज भी ऐसा कोई कश्मीरी-हिन्दू या मुसलमान नहीं है जिसके जिह्वाग्र पर उसका कोई-न-कोई वाख न हो और उसकी स्मृति में श्रद्धानत न हो।[१] उससे पूर्व कश्मीरी में कविता की रचना मात्र स्मृति-विद्या के रूप में की जाती थी ताकि अध्यात्मिक प्रविधियों को कंठस्थ करने मे सहायता मिल सके। मगर ललद्यद के वाखों में उसका उपयोग व्यक्ति की इच्छाओं, अनुभूतियों, संवेदनाओं और 'चिंतन शैली' को व्यक्त करने के लिए किया गया। उसने प्रवुद्धवर्ग व आम आदमी तथा आम आदमी व आम आदमी के बीच संप्रेषण के नये मार्ग खोले। ललद्यद का केवल ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। वह यथार्थ रूप में आज दिन तक के कवियों में अग्रगण्य है जिसने अपनी असामान्य सर्जन शक्ति की मौलिकता से कश्मीरी का उद्धार किया। वह ऐसी कवयित्री है जिसकी कविता, सर रिचर्ड टेम्पल के अनुसार, अग्निमयी है जिसमें कवयित्री की—

'चिंतन शक्ति की प्रज्वाला दहक रही है'

ग्रियर्सन के सटीक निरीक्षणानुसार ललद्यद के वाख "भावपूर्ण व चित्रमय शैली में पूर्वप्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक व वास्तविक हृदयोद्गार हैं। इस आधार पर इन वाखों के योगदान को भारत की धार्मिक इतिहास-परंपरा में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ने के प्रसंग में साक्षी स्वरूप ग्रहण किया जाना चाहिए।"[२] ये वाख अध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान के दस्तावेज़ या संहिताएं हैं जिनमें तत्वान्वेषक के लिए प्रभूत सामग्री छिपी है तथा साथ-ही-साथ काव्य सौष्ठव भी विपुल मात्रा में गुंफित है। मौलवी रूम के अनुसार ये वाख—

"ऐसी दर्शन शक्ति से संयुक्त हैं जिससे वाक् शक्ति का विकास होता है और ऐसी वाक् शक्ति उनमें परिव्याप्त है जिससे दर्शन शक्ति तीक्ष्ण हो उठती है।।'

ललद्यद एक ऐसी दुर्लभ और अपूर्व विभूति है, एक ऐसी परकोत्कृष्ट योगिनी है जिसने अपने जीवनकाल में ही परमविभु (परमगथ) का मार्ग खोज लिया

---

१. एल० वही, पृ० १
२. एल० बी० भूमिका VI

था और ईश्वर के धाम (प्रकाशस्थान) में प्रवेश किया था। वह जीवन मुक्त थी और उसके लिए जीवन अपनी निरर्थकता और मृत्यु अपनी भयंकरता खो बैठे थे। उसने ईश्वर से एकनिष्ठ होकर पूर्ण लगन के साथ प्रेम किया था और उसे अपने में स्थित पाया था (गटि रौट्टुम)। इसी आधार पर हमारे इतिहासकारों ने उसे 'मज्दहुवा' (जिसे ईश्वर ने अपना लिया हो) कहा है। 'अस्रार-उल-अब्रार' के अनुसार वह ऐसी 'मजनून-ए-आक़िला' थी जो भगवद्रति में सराबोर तो हो गई थी किन्तु आत्म चेतना के स्तर पर पूर्णतया सजग, सचेष्ट और गीता के अनुसार 'दक्ष'[1] थी। उसके वाख अपनी स्पष्टता, सार गर्भितता, विचारों की गहनता तथा कारयित्री प्रतिभा के कारण अनुपम हैं। उसने जनता को धर्म का कोई रटा-रटाया स्वरूप नहीं दिया और न ही वह असंस्कृत रुचि वाली कोई मामूली संत-कवयित्री थी। उसके वाख उपनिषदों से भी बढ़कर हैं। सूत्रात्मक शैली में निबद्ध ये वाख कवयित्री की अपूर्व अध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना बड़े सुन्दर ढंग से करते हैं। जैसा कि डॉ० राघवन का मत है—"वे मध्यकालीन संत-गायकों के भक्तिगीत नहीं हैं"[1] ललद्यद का योगदान भक्ति-विषयक काव्य की तुलना में अध्यात्मिक अनुभूतियों व अन्तर्दृष्टि के सन्दर्भ में अधिक है।[2] इन सभी महत्वपूर्ण मान्यताओं के आधार पर हम ललद्यद को मध्यकालीन हिन्दू पुनरुद्धारकों व धर्मप्रवर्त्तकों की नेत्री कह सकते हैं। एक आधुनिक मनोवैज्ञानिक के शब्दों में उसे 'मनस्विनी' कहा जा सकता है। १३वीं शताब्दी की प्रसिद्ध मराठी कवयित्री मुक्ताबाई में भी उस जैसी अत्यधिक संवेदानशीलता नहीं है। वह इस दृष्टि से कृष्ण की गोपियों, दक्षिण भारत की आलवार भक्तिन अंदाल और राजस्थान की राजकुमारी मीरा तथा क्राइस्ट की अनुगामिनियों' सेंट गरट्रूड, मारगीट मेरी अलकॉक से भिन्न है। यदि यह कहा जाए कि स्त्रीवर्ग की सभी ईश-भक्तों में वह सबसे अधिक निर्भीक व सशक्त है, तो अनुचित न होगा।[3] हमारे इतिहासकारों ने उसे बारंबार 'राबिअः सानियः' (दूसरी राबिअः, निधन ८०१ ई०) कहा है। यहाँ पर तुलना करने की ज्यादा आवश्यकता नहीं है और यदि तुलना की ही जाए तो विचारों की सरसता व सहजता की दृष्टि से वह रमना महर्षि के समान, अत्यधिक लोकप्रियता व दिव्य उपलब्धियों की दृष्टि से श्रीसाईं बाबा के समान तथा मूर्तिपूजा, सामाजिक वर्ग-भेद तथा परंपरागत धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करने की दृष्टि से वह वेमना के समान है।[4] उसने जो अन्वेषित किया उसे जीवन में पूरी तरह उतारा भी तथा परंपरागत

१. XII १६
२. व ३ 'द ग्रेट इनटेग्रेट्र्स' (प्रकाशन विभाग) पृ० २७
३. एस० एल० के. पृ० ४९-५१
४. गुंतूर (आंध्र प्रदेश) की प्रसिद्ध संत-कवयित्री।

रूढ़ियों व कुरीतियों से कोई समझौता नहीं किया। यही वजह है कि यद्यपि उसने कोई पंथ या संप्रदाय नहीं चलाया, उसका प्रभाव अक्षुण्ण और बहुविस्तृत रहा जबकि उसके पूर्ववर्ती शैव दार्शनिक और धर्मगुरु अपनी एक निश्चित विचार पद्धति तक ही सीमित रहे।

ललद्यद अपने आप में एक आदर्श है, एक क्लास है। उसने स्वयं ईश्वर को अनुभव किया— 'बुछुम पंडिथ,' शिव और शक्ति को एक-साथ निबद्ध देखा (वुछुम शिव तु. शख्त मीलिथ), शिव को चराचर में व्याप्त पाया (शिव मय चराचर जग पश्या)। ललद्यद निःसन्देह संसार कीमहानतम अध्यात्मिक विभूतियों में से एक है। ऐसे तत्वदर्शकों का आविर्भाव-मात्र वरदान (रहमत) समझा जाना चाहिए। **उसने अति सूक्ष्म किन्तु गहन प्रभाव के अलोक को जन जन में विकीर्ण किया तथा आत्मशुद्धता, सदाचार और मानव-बंधुत्व की भावनाओं को जगाकर जनमानस को आलोड़ित कर डाला।** ये मूल्य समाज में ऐसे व्याप गये कि वर्ग व जाति भेद की संकीर्णताओं को लांघ जनता ने उन्हें आत्मसात् कर लिया जिससे आने वाले विकट काल में भी उनका मनोबल ऊंचा और अडिग रहा।

ललद्यद के इस संसार में न रहने के बाद भी काफी लम्बे समय तक उसके वाखों को दीक्षा के रूप में ग्रहण किया जाता रहा और ये अन्तर्कथाएं फैल गईं कि किस प्रकार उसने मख़दूम शेख हम्ज़ा के भाई शेख अली[१] को दीक्षित किया था और ४०० साल बाद अपने वाखों को स्वयं हांगलगौंड के मिर्ज़ा काक व उसके शिष्यों को समझाया।[२] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ज्यों ज्यों समय बीतता गया उसकी प्रसिद्धि भी बढ़ती गई क्योंकि शुद्धबुद्धिसम्पन्न परमार्थ-अन्वेषियों ने उसे धर्म की संकीर्णताओं से ऊपर माना। उसके वाख देहातों व गांवों की सीधी-सादी जनता में अधिक प्रचलित हुए तथा उनका सन्देश बाद में समान रुचि वाले उन ऋषियों ने प्रचारित किया जिनके लिए 'आईने अकबरी' में उल्लिखित है 'यद्यपि वे परंपराओं के बंधन में अपने को ढालने के पक्ष में नहीं रहे तथापि वे ईश्वर के सच्चे उपासक थे। उनका किसी भी अन्य धर्म-संप्रदाय से विरोध नहीं था।' इस प्रकार समन्वय और सहिष्णुता की एक ऐसी परंपरा का हमें परिचय मिलता है जो हमारी अमूल्य थाती है। यह वह उपलब्धि है जो ललद्यद को व्यावहारिक एवं उपयोगी बनाती है और जिसके लिए हम उसके कृतज्ञ हैं। हमारे कवियों व अध्यात्मवादियों ने इस बात की शताब्दियों से साक्षी दी है। ललद्यद के कनिष्ठ समकालीन शेख नूरुद्दीन ऋषि ने उनके बारे में यों कहा—

---

१. बी. बी. एल. २५५
२. ए० के० पृ० १७

'उस पद्मानपोर की लला ने
दिव्यामृत छक कर पिया
वह हमारी अवतार थी—
प्रभु ! वही वरदान मुझे भी देना !

रूपभवानी (१६२५-१७२१) ने उसे परमगुरु की संज्ञा दी—

लल मान लल परमग्वरम्

परमानंद (१७९१-१८७९)

योग के द्वादशांत मंडलों को पार कर
अनहद, नाद बिन्दु और ओम को स्वात्म कर
ललेश्वरी ब्रह्मानंद में संविलीन हो गई।

शमस फकीर (१८४३-१९०४)

लल ने प्राणों को अव्यक्त विभु में समाहित किया
शुराहयार घाट के पवित्र तीर्थस्थान पर
प्रकटतः वह करने को गई थी देह-स्नान
और द्रुत गति से उस ओर जा कूदी
जहां कोई नहीं, बस हैं एक भगवान्

सच्चाई तो यह है कि ललद्यद उस परम पिता परमेश्वर द्वारा मनोनीत एक ऐसी दुर्लभ संत-विभूति थी जिसे उत्पलदेव अपनी 'शिवस्तोत्रावली' में यों नमन करता है—

उस भक्त को प्रणाम—
जो परमेश्वर और उसकी अनुकंपा
पर रहता है आस्थावान ।
ध्यान-जप, नियम-नीति की
सहायता के विना शिवप्रकाश को
सहज औ' अनायास ही देख लेता है ।

अनुवाद

लल-वाख

(1) आमि पनु. सो'दरस नावि छस लमान

कच्चे धागे से मैं अपनी नैया को भवसागर से खींचकर ले जा रही हूँ। जाने कब मेरे देव (ईश्वर) मेरी सुनेंगे और मुझे पार लगाएँगे। (मेरा यह परिश्रम वृथा जा रहा है) वैसे ही जैसे मिट्टी के कच्चे सकोरों से पानी चूता है। मगर, इतना सब होते हुए भी मेरा जी मचल रहा है कि अपने घर (परमधाम) को चली जाऊँ।

(२) ल'लिथ ल'लिथ वदय बो वा'य

रे चित्त ! तुझ पर फूट-फूट कर रोऊँ। तू (साँसारिक) मोह माया में (बुरी तरह) उलझ जो गया। (तू शायद यह नहीं जानता कि अंतकाल में) यह लोह-लंगर (भौतिक सुख-वैभव) की छाया तक तेरा साथ न देगी। हा ! तू निज-स्वरूप को क्यों भुला बैठा ?

(३) तलु. छुय ज्युस तय प्यठु. छुक नचान

तेरे नीचे खाई है और तू उसके ऊपर नाच रहा है। भला तेरा मन इस स्थिति से समझौता कैसे कर रहा है ? सब कुछ इक्ट्ठा कर तुझे बाद में यही छोड़ देना है, (इस बात को जानते हुए भी) भला तुझे यह अन्न कैसे रुचता है ?

(४) हचिवि होरिंजि प्यचिव कान गोम

(भाग्य ने मेरे साथ खिलवाड़ किया) काठ के धनुष के लिए बाण मिला तो वह घास का। राजमहल के (निर्माण) के लिए बढ़ई मिला तो वह भी निपट

मूर्ख। मेरी स्थिति तो बीच बाज़ार में ताले रहित दुकान जैस हो गई है। देह मेरी तीर्थ-विहीन ही रही। मेरी यह विवशता भला कौन जान सकता है !

(५) आयस वते ग'यस नु. वते

(इस संसार में) मैं सीधी राह से तो आ गई किन्तु (मोह-माया में पड़कर) यहाँ से सीधी राह से लौट न पाई। अभी बीच सेतु से गुज़र ही रही थी कि दिन ढल गया। (साधना रूपी कमाई की) जेब में हाथ डाला तो देखा वहाँ एक कौड़ी भी नहीं। अब भला पार उतरने के लिए (नाविक को) दूं तो क्या दूं ?

(६) क्या करु. पांच् द'हन तु. कहन

इन पाँच (तत्वों), दस (विकारों) और ग्यारह (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेद्रियाँ और एक मन) का क्या करूँ। सब मेरी हंडिया (देह) को खाली कर गये। (सभी भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर जा रहे हैं) काश ! ये सभी मिलकर एक ही दिशा में रस्सी को खींचते तो भला फिर ग्यारह की देखरेख रहते भी गाय कैसे भाग सकती थी ?

(७) अछ्.यन आय तु. गछुन गछे.,

(अनादि काल से) अविच्छिन्न गति से हम (इस संसार में) आते रहे और (यहाँ से) जाते रहे। (आवागमन का) यह चक्र दिन-रात चलता रहा है और चलता ही रहेगा। (रे मनुष्य !) तू अब यह प्रयत्न कर कि जहाँ से तू आया है, वहीं चला जा। (वहाँ से मुड़कर न आ)। (आवागमन के इस चक्र से) तुझे कुछ-न-कुछ सीख ले लेनी चाहिए।

(८) आयस कमि दिशि तु. कमि वते,

मैं किस दिशा और किस मार्ग से आई, नहीं जानती। किस दिशा और किस मार्ग से (वापस) जाऊँगी, यह भी नहीं जानती। (दिशा-बोध तभी हो सकता है) जब अन्ततः मुझे कोई सत्परामर्श दे। क्योंकि मात्र श्वास-साधन (योग, प्राणायाम आदि) पर अवलंबित रहने में कोई सार नहीं है।

(९) गाटुलाह अख वुछुम बोछि स्त्य मरान,

(मैंने) एक प्रबुद्ध को भूख से मरते देखा, मानो पवन (पतझर) पौष-पवन से जर्जरित हो रहा हो तथा एक रसोइए को एक़ निर्बुद्धि से पिटते देखा। (इस विरोधाभास को देखकर) मैं लल उस क्षण की प्रतीक्षा करने लगी जब मेरे भवबंधन छूट जाएँ।

(१०) द'मी डीठु.म नद व'हवु.नी,

अभी मैंने बहती हुई नदी को देखा, और अभी उस पर न कोई सेतु देखा और न पार उतरने के लिए पुलिया ही। अभी खिली हुई फूलों की एक डाली देखी, और अभी उसपर न गुल (सुमन) देखे और न काँटे।

(११) द'मी डीठुम ग'ज दज़ु.वु.नी,

अभी जलता हुआ चूल्हा देखा, और अभी उसमें न धुआँ देखा और न आग। अभी पांडवों की माता को देखा, और अभी उसे एक कुम्हारिन के यहाँ शरणागता मौसी के रूप में देखा। (समय के खेल को कोई नहीं जान सका है!)

(१२) चा़मर छ'तु.र रथु. सिंहासन,

चँवर, छत्र, रथ, सिंहासन, आह्लाद, नाट्य-रस, रेशमी पर्यंक आदि को (रे मनुष्य!) तूने क्या इस संसार में स्थिर माना है? (ये सारे ऐश्वर्य भोग के साधन अस्थिर हैं, स्थिर अगर कोई वस्तु है तो वह है) मरने की शंका, जिसे तू भुला बैठा है।

(१३) दीहचि लरि दारि बर त्रो'पुरिम,

अपने देहरूपी मकान की खिड़कियाँ व दरवाज़े बंद कर मैंने उसमें प्राणरूपी चोर को पकड़ लिया और उसे बंद कर दिया। फिर हृदय की कोठरी में उसे बाँधकर ओऽम् के चाबुक से उसको पीट-पीटकर गुंजा दिया यानी सहज नाद गूंज उठा।

(१४) हा चयता कवु. छुय लोगमुत परमस,

रे चित्त! तू क्यों आसक्ति में पड़ा हुआ है? क्यों झूठ में तुझे सच की प्रतीति होती है? तू दुर्बुद्धि के कारण परधर्मी बन गया है (अपने धर्म से च्युत

हो गया है) तभी तो आवागमन और जन्म-मरण के चक्कर में फंसा हुआ है।

(१५) **हा मनशि ! क्याज़ि छुख वुठान सॅ'कि लूर,**

रे मनुष्य ! तू क्यों रेत की रस्सी बनाता (बटता) है ? इससे, रे भले मानस ! तेरी जीवन-नैया पार नहीं लग सकती। नारायण ने तेरी जो कर्म (भाग्य)-रेखा खींची है, वह कभी फिर (बदल) नहीं सकती।

(१६) **च़रमन च़'टिथ दितिथ प'न्य पानस,**

अपने चर्म को काट काटकर तूने (रे मनुष्य !) अपने चारों ओर शरीर में खूंटे गाड़ दिए (कठोर साधना से अपने को कष्ट पहुँचाया) पर तूने अपने भीतर ऐसा कोई बीज नहीं बोया जिससे तुझे कुछ फल मिलता। अब तुझे समझना वैसे ही निरर्थक है जैसे गुंबज पर कंकर फेंकना या बैल को गुड़ खिलाना।

(१७) **नियम कर्योथ गरबा,**

गर्भवास में (तूने रे मनुष्य !) (आत्म-चिंतन का जो) नियम पाला था, उसे तू भूल क्यों गया ? (अभी भी मौक़ा है) तू मरने से पहले ही मर जा क्योंकि मर के ही मरतबा (पद, यश) बढ़ता है।

(१८) **मूडस ग्यानु़च कथ नो व'निज़े,**

मूढ़को ज्ञान की बात कभी कहना नहीं, गधे को कभी गुड़ खिलाना नहीं। जो जैसा करेगा सो वैसा भरेगा, तू व्यर्थ अपने को कुएँ में ढकेलना नहीं।

(१९) **दे'छिनिस ओ'बरस ज़ायुन ज़ानु़हा,**

दक्षिणी मेघों को भंग (छिन्न-भिन्न) भी कर सकती हूँ, सागर से जल को भी उलीच सकती हूँ, असाध्य रोग की चिकित्सा भी कर सकती हूँ किन्तु मूढ़ को (तत्त्वार्थ) नहीं समझा सकती।

(२०) **ट्यो'ठ मोधुर तय म्यूठ ज़हर,**

(कभी-कभी) कड़वा मीठा और मीठा जहर (समान कड़वा) होता है। (इसलिए रे मनुष्य !) जिसने जितना कष्ट सहा (कटुता को चखा) और एक निष्ठा से आराधना की, वह अपने उद्देश्य (मंतव्य) को प्राप्त करने में सफल हो गया।

(२१) गोरन वो'नु.नम कुनुय वचु.न,

गुरु ने मुझे एक ही वचन की दीक्षा दी—बाहर से भीतर (अन्दर) चली जा। इसी एक वचन ने मेरी काया पलट दी और मैं नंगी (विवस्त्र) नाचने लगी।

(२२) राजस बा'ज्य य'म्य करतल त्या'ज्य,

जिसने तलवार उठाई वह राज्य का भागीदार बना। जिसने तप और दान किया वह स्वर्ग का भागीदार बना। जिसने गुरूपदेश को आतमसात् कर लिया वह सहज (परमात्म-दर्शन) का भागीदार बना। (दरअसल, इस संसार में) पाप-पुण्य के कारणों का भागीदार मनुष्य स्वयं है।

(२३) नाबु.द्य बारस अट गंड ड्योल गोम,

(जिस) मिश्री (सांसारिक सुख-संपदाओं) की गठरी (मैं कन्धे पर ढो रही थी उस) की गाँठ ढीली पड़ गयी। देह कमान झुक गयी। अब भला यह भार कैसे वहन कर सकूंगी। ऊपर से गुरूपदेश को भी कडुआ जानकर अवहेलना की। अब तो मेरी हालत गड़रिए के बिना रेवड़ (भेड़ों के समूह) की जैसी हो गयी है। भला यह भार अब कैसे वहन कर सकूंगी !

(२४) गॉरस प्र'छाम सासि लटे,

गुरु से मैंने हजार बार पूछा कि जिसे 'कुछ नहीं' कहते हैं, उसका नाम क्या है ? पूछते-पूछते मैं थक गई और मुरझा गई। (अंत में) मैं यही समझी कि 'कुछ नहीं' से ही कुछ निकला है।

(२५) ज़नु.म प्रा'विथ वयबव नो छोंडुम,

जन्म पाकर मैंने (कभी) वैभव (ऐश्वर्य-भोग) को नहीं ढूंढा (कभी उसकी

चाह नहीं की)। लोभ और भोग से प्रीति नहीं रखी। समाहार को ही पर्याप्त माना। ऐसा करने से मेरा दु:ख-दैन्य दूर हुआ और दैव को अपना बना लिया।।

(२६) **आयस ति स्यो'दु.य तु. गछु. ति स्यो'दुय,**

मैं सीधी ही आई थी और सीधी ही जाऊंगी भी (अर्थात् जन्म से ही मैंने सरल स्वभाव अपनाया और अन्तकाल तक इसी स्वभाव को अपनाऊँगी) मुझ सीधी को भला टेढ़ा (शठ स्वभाववाला) क्या करेगा ? वे (परब्रह्म) तो मुझे प्रारंभ से ही जानते-पहचानते हैं अत: मुझ जानी-पहचानी का वे भी भला क्या कर सकेंगे ? (अर्थात् अपनी सहज सरलता के कारण मैं निर्भय हो चुकी हूँ)।

(२७) **ख्यनु. ख्यनु. करान कुन नो वातख,**

(रे मनुष्य ! तू) खा-खाकर (अत्यधिक सुख-वैभव का भोग करने पर) कहीं का नहीं रहेगा और न खाने पर (अपनी इच्छाओं का नितांत शमन करने पर) अहंकारी बनी जाएगा (तुझे अपनी उपलब्धि का दंभ हो जाएगा) इसलिएतू समरूप में (न ज़्यादा न कम) अर्थात् बाँछित मात्रा में अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर, इसी सब विधि से तेरे बंद द्वार खुल जाएँगे।

(२८) **च़लुन छु बु.ज़मलु. तु. त्रटय,**

सहनशीलता बिजली और गाज समान (कठोर परीक्षा व श्रम की वस्तु) है, सहनशीलता मध्यान्ह में,अन्धकार के समान (असंभव सी बात) है। सहनशीलता अपने आप को चक्की में पीसने के समान है। (रे मनुष्य ! यदि तू) संतोष से काम ले तो वह (सहनशीलता) स्वयं मिल जाएगी।

(२९) **च़लु च.यता वोंदस बयि मोबर,**

रे चंचल चित्त ! तू हृदय में भय को न भर (ला)। तेरी चिंता तो स्वयं अनादि कर रहे हैं तुझे क्या मालूम कि कब वे तेरी क्षुधा (इच्छा) पूरी करेंगे। तू तो केवल उसके नाद (नाम) का जाप करता जा।

(३०) **ख्यथ गं'डिथ श'मि ना मनस,**

(मात्र) खाने और पहनने से मन को शाँति नहीं मिलती। जिन्होंने मिथ्या

आशाओं को त्याग दिया, दरअस्ल वही उन्नति के शिखर पर चढ़ गये। शास्त्र सुन-सुनकर यम-भय बड़ा क्रूर दिखने लगता है। जो इन शास्त्रों के चक्कर में नहीं पड़ा अर्थात् जिसने उधार नहीं लिया, वही धनी है, आनन्द का भागीदार है।

(३१) **कंद्यो ! करख कंदी क़दे,**

रे मनुष्य ! यदि तू हमेशा अपने तन की चिंता करता रहेगा, तन की ही साज-सज्जा में खोया रहेगा, तन के लिए भोग-विलास के साधन जुटाता रहेगा, तो यह जान ले कि तेरी इस देह की कभी राख तक भी न बची रहेगी।

(३२) **साँमन गारुन मंज़ यथ कंदे,**

(रे मनुष्य !) तू अपने तन में ही सुमन (सच्चे मन) से उसे खोज जिसका तू स्वरूप है। तेरे मन से जब लोभ-मोह मिट जायेंगे तो तेरा यह तन सुशोभित होगा और तेज एवं सूर्य-प्रकाश से भास्वरित हो जाएगा।

(३३) **यवु़ तू़र च़लि तिम अम्बर ह्यता**

ठंड दूर करने के लिए अम्बर (वस्त्र) धारण कर; क्षुधा मिटाने हेतु आहार ग्रहन कर ले। रे चित्त ! किन्तु (जिससे तुझे आनंद की प्राप्ति हो) उस स्व और पर का विचार कर, चिंतन कर ले, नहीं तो अंत में तेरी यह देह वन्य कौओं का आहार बनेगी।

(३४) **व्रेशि बो'छि मो क्रेशनावुन,**

(रे मनुष्य ! तू) प्यास व भूख के मारे अपनी देह को न तड़पा। जैसे ही यह बुझने लगे (थकने लगे) वैसे ही इसे संभाल ले। तेरे व्रतोपवास धारने और बाह्याडंबर पालने पर धिक्कार है। परोपकार कर, वही तेरा (परम) कर्त्तव्य है।

(३५) **अथु़ मबा त्रावु न खरबा,**

(रे मनुष्य!) अपने हाथ से इस (मन रूपी) गधे को न जाने दे। (इसे वश में रख) यह (मूर्ख) लोगों की केसरवाटिका खा जाएगा और फिर तुझे दण्ड-स्वरूप तलवार की मार सहनी पड़ेगी।

(३६) ये'म्य लूब मनमथ मद चू.र मोरुन,

जिसने लोभ, मन्मथ (काम) और मद रूपी चारों को मारकर उन्हें अपने रास्ते से हटा दिया तथा इतना-कुछ करने पर भी दास (निराभिमानी) बना रहा, उसने सहज-ईश्वर को पा लिया और फिर उसकी दृष्टि में सांसारिक सुख-वैभव राख समान हैं।

(३७) मारुख मारुबोथ काम क्रूद लूब,

काम, क्रोध और लोभ घातक हैं, (रे मनुष्य !) इनको मारकर समाप्त कर दे, अन्यथा ये तुझे ही अपने तीरों से मार देंगे। इन्हें सुविचारों के खाद्य द्वारा शाँत स्थिति में ले आ और उनके विषय क्या हैं, यह दृढ़ता से जानने की कोशिश कर।

(३८) गाल गंड्यन्य बोल प'ड्यन्यम,

चाहे कोई मुझे गाली दे या बुरा-भला कहे। जिसे जो रुचे, मुझे कहे। चाहे तो कोई मेरी सहज कुसुमों से पूजा करे। मगर इस सब का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि मैं अमलिन हूँ।

(३९) आ'सा बोल कडिन्यम सासा,

मेरे लिए लिए चाहे कोई अपने मुँह से हजार गालियाँ भी क्यों न निकाले, मेरे मन के वासी को (आत्मा को) किसी तरह का खेद नहीं पहुँचेगा। मैं अगर सहज (स्वात्म) उससे शंकर की भक्त हूँ तो भला मेरे मन-दर्पण पर मैल कैसे जम सकती है ?

(४०) मूड जा'निथ पशिथ ति को'र,

(रे मनुष्य ! तू) जानते हुए भी मूढ़ बन, देखते हुए भी चक्षुहीन बन, सुनते हुए भी बहरा बन और जागृत होते हुए भी जड़-रूप बन। जो जैसा कहे उसके साथ वैसा ही बोल। यही तत्त्वविद् का अभ्यास है।

(४१) मनसा'य मन बवसरस,

(रे मनुष्य ! तेरा यह) मन एक भव-सागर है। यदि इसे खुला छोड़ देगा (बाँधेगा नहीं) तो इसमें से गाली-गलौज़ (ईर्ष्या, द्वेष, वैर आदि) रूपी बड़वानल के फव्वारे छूटेंगे जिन्हें तू तोलना भी चाहे तो नहीं तोल सकता।

(४२) रुत तु. ऋुत सोरुय पज्यम,

भला और बुरा मुझे समभाव से सहना हैं। कान मेरे न बुरा सुनें और आँखें मेरी न बुरा देखें। हृदय में मेरे जब उधर का आह्वान (स्वात्म का आह्वान) उद्‌बुद्ध होगा तब मेरे भीतर अकिंचनता के प्रभंजन में भी रत्नदीप प्रज्वलित होगा।

(४३) मंदछि हाँकल कर छ्यनॅम,

लाज की सांकल तभी टूट सकेगी जब दूसरे के उलाहनों, हंसी-मजाक और अपशब्दों को सहने की मुझमें क्षमता आ जाएगी। दरअसल, लाज का यह पर्दा तभी जलेगा तब मेरे अन्तर्मन का स्वच्छंद घोड़ा मेरे वश में रहेगा।

(४४) परान परान ज़्यव ताल फ'जिम,

पढ़ते-पढ़ते मेरी जीभ और तालु फट गये मगर तेरे योग्य कर्त्तव्य-विधि मेरी समझ में न आयी। सुमरनी (माला) फेरते-फेरते मेरा अँगूठा और उंगलियाँ गल गईं मगर मन की दुय (द्वैतभावना) फिर भी दूर न हुई।

(४५) अव्याचा'री पोथ्यन छि हो मालि परान,

अविचारी पोथियों (धर्मग्रन्थों) को वैसे ही पढ़ते हैं जैसे पिंजड़े में तोता 'राम-राम' रटता है। ऐसे लोगों के लिए गीता का पढ़ना मात्र एक बहाना (ढोंग है) गीता मैंने पढ़ी और पढ़ रही हूँ। (धर्म-ग्रन्थों के कथनों को पढ़कर उन्हें आत्मसात् करना ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है)।

(४६) परुन सॉलब पालुन दॉरलब,

पढ़ना सुलभ (आसान) है किन्तु उसका पालन करना दुर्लभ (कठिन) है। (इसी प्रकार) सहज (स्वात्म) को खोजना भी दुष्कर है। अभ्यास के घने कुहरे में जब मैं सारे शास्त्र भूल बैठी तब मुझे चेतन-आनंद की प्राप्ति हुई।

(४७) रावनु मंज़्य रोवुम,

मैं(स्वात्म में इतना)खो गई कि यह भूल गई कि मैं खो गई हूँ तथा भवसागर में लीन हो गई। हँसते-खेलते मैंने सहज को प्राप्त कर लिया और इस प्रक्रिया को आत्मबोध का आधार बनाया।

(४८) ह्यथक'रिथ राज फ़ेरिना,

(यह कैसी विडंबना है कि) राज्य (ऐश्वर्य के साधन) पाकर व उसका उपयोग करने पर भी मन तृप्त नहीं होता और राज्य त्यागने पर भी मन को संतुष्टि नहीं होती। (दरअसल, लोभ ऐसी चीज़ है कि) विना लोभ के जीव मरता नहीं है (लोभ उसके साथ लगा रहता है) जीते जी मनुष्य मर जाए, वह इच्छा-लोभ को मार दे, यही ज्ञान की बात है।

(४९) युस यि करुम करि प्यतरन पानस,

जो जैसा कर्म करेगा उसका वैसा फल उसे भुगतना पड़ेगा। दूसरे उसमें भागीदार नहीं हो सकते। मनुष्य को चाहिए कि वह निःस्पृह होकर कर्मफल को स्वात्म (परमातमा) के ऊपर छोड़ दे। फिर जहाँ कहीं भी जाएगा वहाँ उसका हित होगा।

(५०) कवु छुख दिवान अनिने बछ,

(रे मनुष्य तू) क्यों अन्धे की तरह इधर-उधर टटोलता (हाथ-पाँव मारता) है। यदि तू बुद्धिमान है तो अन्दर की ओर उन्मुख हो जा। शिव वहीं पर हैं, अतः कहीं और न जा। मेरे इस सहज कथन पर तू विश्वास कर।

(५१) पवन पूरिथ युसा अनि वगि,

जो पवन को पूरक (भीतर-बाहर खींचकर अर्थात् प्राणायाम) द्वारा नियंत्रित करे, उसको न भूख स्पर्श कर सकती है और न प्यास। जो अंत तक यह विधि अपनाये संसार में उसी का जीना सार्थक है।

(५२) चुयतु तोरग गगनु ब्रमवोन

चित्त-रूपी तुरंग गगन में भ्रमण करने का आदी है (ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ व

इच्छाएँ करता है) तथा एक निमिष में लाखों योजन घूम आता है। जिसने बुद्धि और चेतनता (विवेक) रूप लगाम से उसको वश में करना सीख लिया, वही प्राण-अपान के चक्रद्वय को नियंत्रित करने में सफल होता है।

(५३) च्यथ अमरपथि थ'व्यजि,

(रे मनुष्य ! तू) अपने चित्त को अमर-पथ पर लगा दे। यदि उसे खुला छोड़ देगा तो फिर पुनः (अमर पथ से) जुड़ेगा नहीं। उसको वश में करने से तू ज़रा भी संकोच न कर क्योंकि वह एक (हठी) शिशु है जो (दूध पीने पर भी माँ की) गोद से उतरने का नाम नहीं लेना।

(५४) कुस मरि तय कस्रू मारना,

कौन मरेगा और किसको मारा जायेगा ? मरेगा कौन और मारेंगे किसको ? जो हर-हर (भगवान्) को भूलकर घर-घर करेगा, वही मरेगा और उसीं को मारा जाएगा।

(५५) गौर शब्द युस यछ़ पछ़ बरे,

जो गुरु-शब्द पर आस्था और श्रद्धा रखे, ज्ञानरूपी लगाम से अपना चित्त-रूपी तुरंग को काबू में रखे, जो इन्द्रियों को वश में करके आनंद-भोग करे, वह भला कैसे मर सकता है और उसे भला कौन मार सकता है ?।

(५६) ग्रटु छु फेरान जे रि ज़ेरे।

चक्की का पाट धीरे-धीरे घूमता है किन्तु अक्ष (खूँटी) को छोड़ और कोई चक्की के घूमने के रहस्य को नहीं जानता। जब ऊपर का पाट घूमता है तो बारीक आटा निकालता और गेहूँ अपने आप पाटों के करीब आता जाता है। (अनवरत साधना और सहिष्णुता से परम उद्देश्य की प्राप्ति संभव है)।

(५७) शिव छुय थलि थलि रोज़ान,

शिव थल-थल पर (सर्वत्र) व्याप्त है (अतः रे मनुष्य ! तू) हिन्दू और मुसलमान में भेद न जान। यदि तू प्रबुद्ध है तो अपने आपको पहचान, यही साहिब (भगवान्) से परिचय करने के बाबर है।

(५८) **मिथ्या असथ कपट त्रोवुम,**

मैंने मिथ्याचार, असत्य व कपट को त्यागने का अपने मन को उपदेश दिया तथा प्रत्येक जन में उस 'केवल' को व्याप्त जाना। अतः फिर अन्न खाने से द्वेष क्यों रखूँ (व्रतोपवास क्यों करूँ)। (व्रतोपवास से अधिक महत्त्वपूर्ण है मन को शुद्ध रखना)।

(५९) **मूड़ो ऋय छय न दा न तु पारुन,**

रे मूढ़ ! तेरा कर्तव्य सजना-सँवरना नहीं है। रे मूढ़ ! तेरा कर्तव्य अपनी काया की चिंता करना नहीं है। रे मूढ़ तेरा कर्तव्य अपनी देह को संभालना भी नहीं है। तेरे लिए तो सहज को विचारना ही उपदेश है।

(६०) **मा'रिथ पंचबूथ तिम फल हंदे,**

रे व्यग्र प्राणी ! अपनी पंचभूत काया में स्थित पंचेन्द्रियों रूपी मेषों (नर भड़ों) को तू अध्यात्मक-ज्ञान का दाना (खाद्य) खिला और तत्पश्चात् उनका बधकर। इसी से तुझे परम-पद की प्राप्ति हो जाएगी, अन्यथा ऐसा न करने पर कोई लाभ न होगा।

(६१) **अंदर आ'सिथ न्यबर छोंड़ुम,**

वे मेरे अन्दर थे मगर मैं उन्हें बाहर ढूँढती रही। तब (प्राणायाम द्वारा) मुझे अपनी रगों के माध्यम से साँत्वना मिली और ध्यानादि योग-क्रिया से इस जगत् की कैवल्य सत्ता को जान लिया। परिणामस्वरूप मेरा रंग (जगत् के) रंग से मिल गया।

(६२) **ग्यानु मारग छ हाकुवा'र,**

ज्ञान-मार्ग एक शाक-वाटिका है, (रे मनुष्य ! तू) इसे शम-दम और सत्कर्मों का पानी पिला। इस प्रकार तेरे पूर्व कर्मों का भार उस पशु की बलि की तरह चुक जाएगा जो साग-पात खाकर देवी की भेंट चढ़ जाता है। अन्यथा खा-खाकर एक दिन वाटिका में कुछ भी शेष न रहेगा।

(६३) **शिशरस वुथ कुस' रटे,**

शिशिर में बरसने वाले पाले पानी को भला कौन रोक सका है ? वायु को भला कौन मुट्ठी में बाँध सका है ? जो अपनी पाँच इन्द्रियों को वश में कर सका वह अन्धकार में भी रवि को पकड़ सका।

(६४) **शील तु. मान छुय पोन्य क्रेंजे,**

(रे मनुष्य ! सत्य-अन्वेषण के समक्ष) शील और मान का विचार टोकरी में जल भरने के समान (व्यर्थ) है। हाँ जो वायु को मुट्ठी में कर सके तथा हाथी को एक बाल से बाँध सके—जिसे यह करना आये, वह अवश्य निहाल (आत्मज्ञान से समृद्ध) हो जाएगा।

(६५) **ल'ज़ कासी शीत न्यवारिय,**

यह तेरी लज्जा को ढाँकता है (खाल, चमड़े आदि के रूप में), शीत से भी तेरी रखा करता है (ऊन आदि के रूप में) स्वयं तो (बेचारा) तृण-जल का आहार करता है। फिर यह उपदेश, रे पंडित ! तुझे किसने दिया कि अचेतन पत्थर पर तू इस चेतन बकरे को बलि चढ़ा।

(६६) **दीव वटा दिवुर वटा,**

देव भी पत्थर है और देवल (मन्दिर) भी पत्थर है। ऊपर नीचे एक-सी (पाषाणमय) स्थिति है। (इसलिए) रे पंडित ! तू पूजा किसकी करेगा ? अतः अपने मन और पवन (प्राण) को एकीकृत कर दे (इसी में सार है)।

(६७) **कुश पोश तेल दू.फ जल ना गछे,**

(साधना के लिए) कुशा, तेल, दीप, जल आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। सद्भाव से जो गुरु की बात मन में उतारे और नित्य भावना से शंभु का स्मरण करे, वह कर्म-बंधन से मुक्त होकर सहज-आनन्द में तल्लीन हो जाता है।

(६८) **कुस पुश तु कोसु पुशा'नी,**

माली कौन ? और मालिन कौन ? कौन से कुसुम उसकी पूजा में चढ़ाओगे? किस जल से उसका अभिषेक करोगे ? और वह मंत्र कौन-सा है जिससे स्वात्म-शंकर के लिए प्रयोज्य (अभिमंत्रण योग्य) है ?

(६९) **मन पुश तय यछ़ पुशा'नी,**

मन माली और जिज्ञासा मालिन। भाव-कुसुमों से उसकी पूजा करना। शशिरस (अमृत जल) से उसका अभिषेक करना और तब मौन रूपी मंत्रजाप से स्वात्म-शंकर की आराधना करना।

(७०) **गगन चु.य बूतल चु.य,**

तू ही गगन, भूलत भी तू ही। तू ही दिन, पवन और रात। अर्घ्य, चंदन, पुष्प, पानी भी तू ही। तू ही सब कुछ है, तो फिर तुझे क्या चढ़ाऊँ ?

(७१) **द्वदशांतु मंडल यस दीवस थजि,**

जिसने द्वादशमण्डल (ब्रह्मरंध्र) को देवस्थान मान लिया हो, जिसने नासिक्य-पवन (प्राणायाम) से अनाहत स्वरूप को अनुभूत कर लिया हो, जिसके मन की सारी कल्पनाएँ (सांसारिक इच्छाएँ) दूर हो गई हों—वही तो देव है फिर भला वह किसका अर्चन करे !

(७२) **अकुय ओमकार यस नाबि दरे,**

जो मात्र ऊँकार को नाभिस्थान में (ध्यानपूर्वक) धारण कर ले तथा कुम्भक (प्राणायाम की एक अवस्था) से उसे ब्रह्माण्ड तक पहुँचा दे और केवल इसी एक मंत्र (यानी ऊँ के जाप) को याद कर ले, उसे अन्य सहस्र मंत्रों (को याद करने) की क्या आवश्यकता है ?

(७३) **शिव वा कीशव वा जिन वा,**

(चाहे वे) शिव कहलाएँ या जिन (बुद्ध) कहलाएँ। या फिर कमलजनाथ (ब्रह्मा) नाम धारण कर लें। चाहे वे कुछ भी कहलाएँ, मुझ अबला को भवरुज (सांसारिक दु:खों) सें मुक्ति दिला दें।

(७४) **लल बु लूसु.स छाँडान त गारान,**

मैं लल उस (परमशक्ति) को ढूंढते-ढूंढते और खोजते-खोजते मुरझा (थक-हार) गयी। फिर भी मैंने अपनी सामर्थ्यानुसार उसे खोजने हेतु शत-शत जोर और लगाये। जब निकट पहुँचकर उसे देखने लगी तो पाया कि उसके किवाड़ों में कुंडी लगी हुई है। (मैंने फिर भी हिम्मत नहीं हारी) मेरी जिज्ञासा बढ़ती ही गयी और मैं वहीं पर उसकी ताक में बैठ गयी।

(७५) **लोलुकि वौखलु. वा'लिज पिशिम,**

प्रीति की ओखली में मैंने अपने हृदय को पीसा (कूटा) जिससे मेरी कुवासना मिट गई और मैं शांतभाव से रहने लग गई। पश्चात्, मैंने इस हृदय को भूना-पकाया और उसको चखा। अब मैं यह नहीं जानती कि ऐसा करने से मैं मर जाऊँगी या जीवित रह जाऊँगी।

(७६) स'हजस शम तु दम नो गछे,

सहज (आत्मबोध) शम और दम से प्राप्त नहीं होता और न ही मात्र इच्छा से मुक्ति-द्वार को पाया जा सकता है। सलिल में लवण घुल भी जाए तो भी सहज-विचार दुर्लभ है। (अर्थात् जीव और परमात्मा के तादात्म्य से तब तक कोई लाभ नहीं है जब तक कि सर्वशक्तिमान परम ब्रह्म का जीव पर अनुग्रह न हो)।

(७७) ज़ननि ज़ायाय रत्य तो'य कंती,

जननी से तू भला-चंगा जन्मा यद्यपि (तूने) उसके उदर (गर्भ) को बहुत क्लेश पहुँचाया। (वयस्क होने पर) तू फिर उसी द्वार की प्रतीक्षा करने लगा (कैसी विडंबना है !) शिव को पाना कठिन है, (रे मनुष्य ! तू) यह उपदेश सावधानी पूर्वक सुन ले।

(७८) सॉय शिल पीठस तु. पटस,

जो शिला पीठ (चौकी) में लगी है, वही सड़क पर भी है। जो शिला पृथ्वीतल पर है वही शिला चक्की में भी शोभायमान है। (मूल-तत्व एक है पर भिन्न-भिन्न दिखते हैं) इसी प्रकार शिवत्व का ज्ञान भी कठिन है, (रे मनुष्य !) इस उपदेश को तू सावधानी पूर्वक समझ ले।

(७९) रव मतु. थलि थलि तो'प्यतन,

क्या यह संभव है कि रवि थल-थल को अर्थात् प्रत्येक स्थल को तापित (प्रकाशित) न कर केवल कुछ उत्तम (गिने-चुने) देशों (स्थलों) को ही तापित (प्रकाशित) करे। इसी प्रकार क्या यह संभव है कि वरुण (जल देव) प्रत्येक घर में प्रवेश किये बिना रह सके। (अर्थात् जिस प्रकार सूर्य और वरुण बिना भेदभाव के सभी प्राणियों के लिए हितकारी हैं उसी प्रकार शिव भी सब का है, सब के लिए है।) बस, उसको समझना कठिन है, यह उपदेश (बात) को मनुष्य ! तू जान ले।

(८१) यिहय मातृ. रू.प पय दिये,

(नारी की महिमा के सम्वन्ध में लल कहती है :—) मातृ-रूप में यह पय (दूध) पिलाती है, भार्या-रूप में विषय-वासना की तृप्ति करती है और अन्ततः माया रूप में प्राण हरण कर लेती है। शिव-प्राप्ति कठिन है, (रे मनुष्य !) इस उपदेश को तू सावधान होकर समझ ले।

(८२) शिव छुय जो'व्युल ज़ाल वाहरा'विथ,

शिव अपना बारीक जाल बिछाये सर्वत्र व्याप्त है। देखो तो कैसे सवके शरीरों (अस्थि-पंजरों) में रच-पच गया है। यदि तू जीते जी उसे न देख सका तो क्या मर कर उसे देखगा ? विवेक और आत्म चिंतन से काम ले और उसे अपने भीतर खोज निकाल।

(८३) तू'रि सलिल खो'त तो'य तुरे,

सलिल को जब (अत्यधिक) शीत अभिभूत कर लेती है तो वह जम जाता है अथवा हिम बन जाता हैं। विमर्श से काम लिया जाय तो इन तीन रूपों (सलिल, जमने की क्रिया व हिम) में तत्वतः कोई भिन्नता नहीं है। जब चैतन्य (विवेकरूपी) सूर्य इन पर चमकेगा तो ये सब एक समान हो जाएंगे और तब बराबर जग शिवमय दिखाई देगा।

(८४) असि पोंदि ज़सि ज़ामि,

(रे मनुष्य ! यह शिव ही है जो) तेरे भीतर (कभी) हंसता है, कभी छींकता है, कभी अंगड़ाइयाँ लेता है और कभी खाँसता है। वह नित्य (तेरे मन के संकल्प-विकल्प रूपी विचारों के) तीर्थों पर स्नान करता है। वर्षभर निर्वसन रहता है। (तेरा शरीर ही उसका वसन है) अर्थात् वह तेरे भीतर (पास) है, उसे (रे मनुष्य !) तू ढूंढ ले।

(८५) बान गो'ल ता'य प्रकाश आव जू.ने,

भानु (सूर्य) के गलने पर चन्द्रमा में प्रकाश आता है। चन्द्र के गल जाने पर कहीं कुछ नहीं रहता तथा 'भूर्भुवःस्वः' अस्तित्व-शून्य हो जाते हैं।

(८६) मल वोंदि ज़ोलुम,

(जब) मैंने हृदय की सारी मैल जला डाली, जिगर (इच्छाओं) को भी

मार डाला और उनके द्वार पर अंचल पसारे जमकर बैठ गई, तब कहीं जाकर मेरा लल नाम प्रसिद्ध हो पाया।

(८७) **लतन हुंद माज़ लार्‌योम वतन,**

(घूमते-फिरते) मेरे तलवों का मांस सड़कों से चिपक गया अर्थात् सत्यान्वेषण के लिए मुझे ख़ूब कष्ट उठाने पड़े। (अंत में) एक (आत्मज्ञान) ने मुझे मार्ग-दर्शन कराया। जो उस (एक) का नाम सुनेंगे वे भला मतवाले क्यों न हो जाएँ। लल ने सौ बातों में से एक बात सार की निकाल ली।

(८८) **पो'त जूनि वा'थथ मो'त बालुनावुम,**

(नित्य) रात्रि के अंतिम पहर में जागकर मैंने इस चंचल मन को बहुत समझा-बुझाकर परमार्थ की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रक्रिया में मुझे अपार पीड़ादि सहनी पड़ी। 'मैं लल हूँ', 'मैं लल हूँ' कहकर मैंने अपने लाल (प्रिय इष्ट) को जगाया और फिर उससे मिलकर मेरी यह देह पवित्र हो गई।

(८९) **तंथु़ र गलि ता'य मंथु़ र मौचे,**

तंत्र (शास्त्र सम्मत तत्त्वांकन) निष्क्रिय सिद्ध हुआ तो मंत्र (जपतप योगादि) सामने आया। मंत्र भी गला (निष्क्रिय सिद्ध हुआ) तो मात्र चित्त (चिन्मय तत्त्व) शेष रहा। चित्त भी जब मिट गया तो कहीं कुछ भी न रहा— शून्य के साथ शून्य मिल गया।

(९०) **लूब मारुन स'हज व्यचारुन,**

(रे मनुष्य !) तू लोभ को मार (त्याग) दे और सहज (स्वातम) का विचार कर। (उस परम-ब्रह्म को प्राप्त करना कोई सरल कार्य नहीं है) अपितु उसे एक महंगा सौदा जान। इसलिए कल्पनाएँ करना छोड़ दे। वह तो तेरे निकट है, उसे अपने से दूर न ढूंढ। वह शून्य के साथ मिल जाने के समान है।

(९१) **च्यतु़ तोंरग वगि ह्यथ रो'टुम,**

मैंने चित्तरूपी तुरंग को लगाम देकर थाम लिया। फिर दशनाड़ियों के श्वासोछ्वास के साथ उसको बाँध दिया। तब कहीं शशिकला पिघली और शून्य में शून्य मिल गया।

(९२) स'चसस नु. सातस प'चसस नु. रुमस,

सूई के नोक व बाल जितना भी मैं कभी (परमात्मा-प्राप्ति के लिए) पीछे न रही। मैंने अपने अन्दर के अन्धकार को पकड़ लिया और पकड़कर उसे चाक कर डाला। (अर्थात् तन्मय होकर मैंने अपने भीतर अज्ञान रूपी अंधकार को समाप्त कर डाला)।

(९३) शॅ वन च'टिथ शॅशि कल वुजु.म,

छः वन (शक्ति के छः चक्र) लाँघकर मैंने शशिकला को जगाया (अर्थात् सांसारिक बन्धनों को जब मैंने योगादि क्रियाओं से वश में कर लिया तब उस चन्द्रकला तक पहुँची जो परम-शिव का स्थान है) इसके लिए मुझे पवन (प्राणायाम) द्वारा अपनी प्रकृति को सुखाना पड़ा। तब कहीं जाकर मैं अपने शंकर को पा सकी।

(९४) ओमकार यॅलि लयि ओनुम,

ऊँकार को अपने में लय करने के लिए मुझे अपनी काया को (प्रेमाग्नि में) तपाना पड़ा। (योग के) छः मार्ग पार कर सातवाँ मार्ग (सहस्रार) पकड़ा और तब कहीं जाकर मैं 'लल' प्रकाश-स्थान तक पहुँच सकी।

(९५) हे गो'रा परमेश्वरा,

हे मेरे गुरु-परमेश्वर ! आप अन्तर्यामी (सर्वज्ञ) हैं, अतः मुझे ज़रा यह समझाइए कि श्वास-प्रश्वास दोनों भीतर से उद्भूत होते हैं, मगर फिर भी हा ! हा ! गर्म क्यों और हू ! हू ! शीतल क्यों ?।

(९६) ना'बिस्थानु छय प्रकरथ ज़लुवुनी

नाभिस्थान की प्रकृति में (जठराग्नि) जलती रहती है और वहीं से कंठ तक प्राण-वायु ऊपर आती है। ब्रह्मांड (शीर्षस्थल) में (प्राणापान रूपी) नदी प्रवाहमान है, इसीलिए हह ठंडा और हा-हा गर्म है।

(९७) लल बु द्रायस लोलरे,

मैं लल प्रेम से उस परमशक्ति को ढूंढने के लिए घर से निकल पड़ी। उसे

ढूँढते-ढूँढते रात दिन बीत गये। अंत में देखा वह पंडित (इष्ट) तो मेरे ही घर में विद्यमान् हैं। बस, तभी से मेरी अन्तर्साधना का उचित मुहूर्त्त निकल आया।

(९८) दमादम को'रमस दमन आये,

(कुंभक द्वारा) मैं प्रतिपल दम (प्राण वायु) का निरोध करती रही। इस (अभ्यास) से मेरे अन्तर में ज्ञान रूपी दीप प्रज्वलित हुआ और मुझे अपनी असली ज़ात (स्थिति) का पता चल गया। तब अन्तर्प्रकाश को बाहर फ़ैला दिया और उस (प्रकाश में प्राप्त सत्य) को मैंने दृढ़ता से थाम लिया।

(९९) छां डान लूसु स पांन्य पानस,

उसे ढूँढते-ढूँढते मेरा तन-मन थक गया पर उस परम-ज्ञान को प्राप्त न कर सकी। जब मैं अपने 'स्व' में लय हो गई तब 'अलथान' अर्थात् ज्ञानरूपी मधुशाला में पहुँच गई जहाँ (मधु से) बर्तन भरे पड़े हैं पर पीता कोई नहीं है।

(१००) म'करिस मल ज़न चोलुम मनस,

जब मेरे मन-दर्पण की मैल धुल गई तो मुझे आत्म-ज्ञान हो गया तथा उसे (शिव को) अपने में ही स्थित पाया। मैंने देखा कि वही सब कुछ है ओर मै कुछ भी नहीं।

(१०१) आ'सुस कु नियि तय सोंपनिस स्यठा,

मैं एक थी मगर अनेक बन गई। (उनके) नज़दीक होकर भी दूर रही। बाहर-अन्दर एक ही (शिव) तत्व मुझे दिखा था (जिसे प्राप्त करने के लिए मैं ध्यान-मग्न हो गई) किन्तु ये चौपन चोर (पंचेन्द्रियाँ, आवेग, विकार आदि) सब कुछ खा-पीकर मुझे धोखा देकर चले गये।

(१०२) ग्यानक्य अम्बर पो'रिथ तने,

(रे मनुष्य ! तू) तन पर ज्ञान के अम्बर (वस्त्र) धारण कर, लल ने जो पद कहे, उन्हें अपने हृदय में उतार। ऐसा करने से जिस प्रकार लल (परम-शिव में) लीन हो गयी, इसी प्रकार तेरे चित्त में भी ज्योति उत्पन्न होगी और मरण की शंका लुप्त हो जाएगी।

(१०३) **शुन्युक ग्रा'दान कोंडुम पानस,**

जब मैंने शून्य के एक असीम मैदान (क्षेत्र) को पार कियातो मुझ लल को न बुद्धि रही और न होश। तब स्वात्म के भेद को पाकर मेरी स्थिति कीचड़ में उगे कमल जैसी हो गई।

(१०४) **समसारस आयस तपसु.य,**

संसार में मैं तप करने को आई और बुद्धि-प्रकाश से सहज (स्वात्म-बोध) को पा लिया। (देशकाल, माया-मोह आदि के बंधनों से मैं मुक्त हो चुकी) न मेरा कोई मरेगा और न मैं ही किसी के लिए मरूँगी। (स्थिति ऐसी हो गई है कि) मरूं तो वाह ! जीवित रहूँ तो वाह ! (स्वात्म-बोध जीवन और मृत्यु की सीमाओं से परे है)।

(१०५) **लल बो द्राय कपसि पोशिचि स'चु.यं,**

मैं लल उसी उमंग और चाव के साथ इस संसार में लिखी थी जिस उमंग और चाव के साथ कपास के डण्ठल पर फूल खिलता है। परन्तु बेलने की रगड़ और पिंजयारे (धुनिये) की धुनकी ने मेरा खूब गत बनाई और बारीक बनाते-बनाते मेरा कण-कण उखाड़ डाला। फिर जुलाहे के यहाँ पहुँचकर (करघे पर) मैं लटक गई।

(१०६) **दो'ब्य यॅलि छा'वनस दोब्य कनि प्यठ्य,**

(इसके बाद) खूब साबुन और सज्जी मलकर धोबी ने मुझे पत्थर पर पटक-पटक कर धोया। फिर दर्जी ने मेरे अंग-अंग में कैंची फिराई और तब कहीं जाकर मैं परमगति पा सकी।

(१०७) **राजु हमुस आ'सिथ सपदुख को'लुय,**

(अंतकाल आने पर) राजहंस के समान होने पर भी (रे मनुष्य !) तुम गूंगे हो गये। जाने कौन तेरे भीतर से क्या लेकर भाग गया ! तेरी (जीवन रूपी) चक्की रुककर बंद हो गई और चक्कीवाला (अन्नादि के सदृश) चैतन्य रूपी फल लेकर भाग गया।

(१०८) **प्रथय तीरथन गछ़ान स'न्ययास,**

(परब्रह्म के) सुदर्शन हेतु संन्यासी प्रत्येक तीर्थ में जाता है। (पर उसे नहीं मालूम कि परब्रह्म उसके चित्त में ही है) रे मनुष्य ! तू अपने चित्त को पढ़ और इस निष्पथ (तीर्थाटन आदि) को त्याग दे। तीर्थयात्रा दूर से घास का नीला दिखने के बराबर है (अर्थात् दूर के ढोल सुहावने वाली बात है)।

(१०९) **कंद्यव गँह तॅज्य कंद्यव वनवास,**

कइयों ने घर त्याग दिए और वनवास करने लगे। किन्तु तब तक यह सब विफल है जब तक कि (चंचल) मन को वश में नहीं किया जाता। (रे मनुष्य !) तू दिन-रात (ध्यानपूर्वक) अपने श्वासोच्छ्वास की गिनती कर अर्थात् अपने जन्म को बहुमूल्य समझकर उसकी रक्षा कर। तू जिस स्थिति में है, उसी से संतुष्ट रह।

(११०) **कलन कालु. जोल्य यो'दवय चे. गोल,**

काल के जाल (काल-चक्र) के साथ-साथ (रे मनुष्य !) यदि तेरी कलनाएँ (इच्छाएँ) भी मिट जाएँ तो चाहे फिर तू वनवासी बने या गृहस्थ, कोई अन्तर नहीं पड़ता। बस, इतना जान ले कि प्रभु सर्वगत और निर्मल है। जैसा उसको समझेगा वैसा ही तुझे प्राप्त होगा।

(१११) **शिव शिव करान हमसु. गथ सोरिथ,**

शिव-शिव करते (जपते) तथा हंस गति (सोऽहम्) का ध्यान करते हुए जो दिन-रात व्यवहारी (गृहस्थ, संसारी) बना रहे और जो अपने मन को लावा (आसक्ति) रहित व द्वैत-शून्य बनाये, उसी पर सुरगुरु नाथ (परम शिव) नित्य प्रसन्न रहते हैं।

(११२) **कँह छी नें'दरि हती वुदी,**

कुछ (व्यक्ति ऐसे होते हैं जो) निद्रामग्न होकर भी जागृत रहते हैं। कुछ जागृत होने पर भी निद्रामग्न रहते हैं। कुछ स्नान करने पर भी अपवित्र ही रहते हैं। तथा कुछ घर (गृहस्थी) करने पर भी अक्रिय अर्थात् निर्लिप्त रहते हैं।

(११३) **ज़ल थमु. वुन हुतुवा तु. रनावुन,**

बहते हुए जल को थामना, अग्नि को बुझाना, पैरों द्वारा ऊर्ध्वगमन (भूमि

से ऊपर उठकर आकाश-मार्ग की ओर वायु में चलना), काठ की धेनु से दूध निकालना—ये सभी अन्ततः कपट-चरित हैं। (योग से चमत्कार दिखलाने वालों पर व्यंग्य)।

(११४) **यथ सरस सिरि फौल ना वेचि,**

(कैसी विडम्बना है कि) जो सरोवर चावल के एक दाने तक को अपने में समा नहीं सकता अर्थात् सुरक्षित नहीं रख सकता, उसी सरोवर के पानी से सबकी प्यास बुझती है। (मृग' शृंगाल, गैंडा और जलहस्ति आदि) सब इसी जल से उत्पन्न होते हैं और इसी में समा जाते हैं। (इस संसार में सब-कुछ नश्वर है)।

(११५) **अटनु च सन दिथ थावन मटन,**

कुटिल व छद्मवेषी इधर का माल चुराकर उधर कर देते हैं और ऊपर से (मारे लोभ के) ज्ञान की बातें बखानने का स्वाँग रचते हैं। ऐसे लोग मिथ्या-प्रदर्शन खूब करते हैं, वे भला इससे पाएँगे क्या ? यदि (रे मनुष्य !) तू प्रबुद्ध है तो ऐसे मिथ्याचार से पग पीछे हटा ले।

(११६) **मद च्योवुम स्यंदु ज़लन येती,**

मैंने कई जन्म लिये, कभी छककर सिन्ध का जल पिया, कभी संसार के रंगमंच पर तरह-तरह की लीलाएँ कीं, कभी माँस आदि का भी भक्षण किया—मगर अंततः पाया कि मैं तो वही लल हूँ फिर यह आवागमन का चक्र कैसा ?।

(११७) **असी आ'स्य तु असी आसव,**

पहले भी हम ही थे और आगे भी हम ही होंगे। हमने ही अनादि काल से दौरे किये (चक्कर काटे)। शिव का जीना-मरना कभी समाप्त न होगा और न ही सूर्य का आना-जाना समाप्त होगा।

(११८) **यि क्याह ओ'सिथ यि कुस रंग गोम,**

(स्वात्म-बोध में) मेरे शरीर के रंग का हाल क्या से क्या हो गया ! (आत्म-चिंतनरूपी) हुद-हुद (पक्षी-विशेष) की ठूँगों ने संग (पत्थर) जैसे मेरे हृदय को

काट डाला। सभी पदों (वेद-शास्त्रादि) का सार एक ही सूत्र में सामने आ गया और मुझ लल के भीतर अमृत का सोता फूट पड़ा। अब सोच रही हूँ कि उसमें कहीं वह न जाऊँ।

(११६) **चिदा नंदस ग्यान प्रकाशस,**

जिनको चिदानंद और ज्ञान के प्रकाश की अनुभूति हो गई वे जी कर भी मुक्त हैं। (किन्तु जिनको यह अनुभूति नहीं हुई) वे अबोध (मूर्ख) संसार के विषमपाश में सौ-सौ गाँठों के समान उलझते जाते हैं।

(१२०) **कुस डिगि तु कुस जागि,**

कौन सोया हुआ है और कौन जागा हुआ है? वह कौन-सा सरोवर है जिससे बूँद-बूँद रिसती है? वह कौन-सी वस्तु है जो हर (शिव) के लिए पूजनीय है? वह कौन-सा परमपद है जो (साधनोपरान्त) प्राप्य है।

(१२१) **मन डिगि तु अकौल जागि,**

जब मन सो (तल्लीन हो) जाता है तो 'अकुल' अर्थात् अन्तरात्मा जागृत हो जाती है। सुदृढ़ रहने वाली पंचेन्द्रियों से उसपर स्वात्म-चिंतन के जल की पूजा होती है और तब शिव-चैतन्य का परमपद मिलता है।

(१२२) **शिव गुर ता'य कोशव पलु नस,**

शिव घोड़ा है और केशव काठी तथा ब्रह्मा पायदान की शोभा बढ़ा रहा है। केवल योगी योग-बल से पहचान सकता है कि कौन-सा देव इस अश्व पर चढ़कर सवारी कर सकता है!

(१२३) **अनाहथ ख सौरू फ शुन्यालय,**

अनाहत-ओइम् जिसकी ध्वनि है, शून्य जिसका स्वरूप है (अर्थात् शून्यालय जिसका वास है), जिसका न नाम, न वर्ण, न गोत्र और न रूप है। आत्म-विमर्श से जिसे नाद-बिन्दु आदि का ज्ञान है, वही देवता (योगशक्ति वाला शहसवार) निर्गुण रूपी घोड़े पर चढ़कर सवारी कर सकता है।

(१२४) **संसारु ना'म्य ता'व तेचु य,**

संसार नाम का यह तवा मूढ़ों के लिए तपाया गया है मगर ज्ञान-मुद्रा योगियों (प्रबुद्धों) के लिए है जो योगकला द्वारा संसार के माहात्म्य को पहचान लेते हैं।

(१२५) **रंगस मंज़ छुय ब्यो'न ब्यो'न लबुन**

इस संसाररूपी रंगशाला में तुझे उस (ईश्वर) के विभिन्न नाम-रूप मिलेंगे। (इस वैभिन्न्य में उसे पा लेना ही बड़ी बात है) इसके लिए जब तू सुख-दुःख सह लेगा; घृणा, वैर, क्रोध आदि को मन से गला देगा तब मुझे शिवमुख के दर्शन होंगे।

(१२६) **दीशि आयस दश दीशि च़लिथ,**

मैं दसों दिशाओं में घूम फिरकर अपने देश (अन्तर्जगत्) में लौट आई। इस के लिए मुझे जाने कितने शून्यों और तूफानों को भेदना पड़ा। जब छः (पंचेन्द्रियों व मन) और तीन (त्रिगुणों) को वश में कर लिया तो पाया कि कि शिव जगह-जगह (सर्वत्र) व्याप्त है।

(१२७) **तन मन ग'यस बो तस कुनय,**

जब तन-मन से मैं उसके ध्यान में खो गई तो मुझे सत्य की घण्टी बजती सुनायी दी। तब मैंने अपनी धारणा (शक्ति) को धारण (आत्मसात्) कर लिया और आकाश व पाताल (सर्वस्व) का रहस्य जान गई।

(१२८) **अंदरी आयस च़दरय गारान,**

(ध्यान-योग में स्थित होकर) मैं अन्दर से (सब को प्रकाशित करने वाले) चन्द्र को ढुंढते-ढूंढते बाहर आ गई। (अर्थात् अंतर्जगत् से बहिर्जगत् में आ गई)। (इस प्रक्रिया में) मैंने भीतर-बाहर दोनों को एक-जैसा पाया। दरअसल, हे नारायण ! तू ही सर्वत्र दिखा है मुझे। हे नारायण ! तू ही सर्वत्र दिखता है मुझको ! हे नारायण ! तेरी यह अद्‌भुत लीला कैसी विचित्र है !

(१२९) **यिमय शँ चे. तिमय शँ में,**

हे श्यामगला (नीलकंठ) ! जिन छः (उपाधियों) से आप युक्त हैं, उन्हीं छः (उपाधियों) से मैं भी युक्त हूँ। बस, आपमें और मुझ में यदि कोई भेद है तो वह

यह है कि आप छः के स्वामी हैं और मेरे छः मुझे लूट गए हैं। [यहाँ पर छः उपाधियों से तात्पर्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर अथवा पंचेन्द्रियाँ व मन से है]।

(१३०) **नाथा ! ना पान ना पर ज़ोनुम,**

हे नाथ ! न मैंने (कभी) अपने (स्व) को और न (कभी) पर को जानने की कोशिश की। सदैव इस कुदेह की चिंता करती रही। तू मैं, और मैं तू—इस मेल को भी कभी न जान सकी। मैं तो इसी सन्देह में पड़ी रही कि तू कौन और मैं कौन !

(१३१) **लल बु चायस सौमन बागु बरस,**

मैं लल जब स्वमन रूपी बाग के द्वार पर पहुँची तो देखा कि (भीतर) शिव शक्ति से मिले हुए हैं। आनन्द-मग्न होकर मैंने अपने आपको (परमात्मा रूपी) अमृत-सर में लय कर दिया। अब अगर मैं जीते जी मर भी जाऊँ तो मुझे कोई चिंता नहीं।

(१३२) **चुय दीवु गरतस तु. दरती स्रज़ख,**

हे देव ! तुम ही इस जीवन और धरती (जगत्) के सृजक हो। तुम ही ने हे देव ! पंचभूतों में प्राण फूंके हैं। हे देव ! यद्यपि तुम ध्वनि-रहित हो किन्तु तुम्हारी ही ध्वनि हर जगह व्याप्त है। हे देव ! तुम्हारा प्रमाण (गति-अवगति) भला कौन जान सका है ?

(१३३) **पर ताय पान यॅम्य सौम मोन,**

जिसने पर और स्व को समान माना, जिसने दिन और रात को एक माना, जिसका मन अद्वय बन गया, उसी ने सुरगुरु नाथ (अमरेश्वर) के दर्शन किये।

(१३४) **अब्या'स सविका'स्य लयि वोथू,**

अभ्यास अर्थात् योगाभ्यास द्वारा जब विस्तार-विकास का लयीकरण हो जाता है यानी बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् एक हो जाते हैं, तब सगुण (ब्रह्माण्ड) और गगन (शून्य, निर्गुण) एक दिखने लग जाते हैं तथा शून्य भी नाम शेष हो जाता है। बचा रहता है मात्र अनामय (रोग, शोक, उपाधि विहीन) शिव तत्त्व। हे पंडित ! यही एक उपदेश है

(१३५) **वाख मनस कॉल अकॉल ना अते,**

(रे मनुष्य !) वह (परमशक्ति) वाणी, मन तथा कुलीनता-अकुलीनता की सीमाओं से परे है। मौन-मुद्राओं का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। शिव और शक्ति भी वहाँ रहते नहीं हैं। (इन सबके अतिरिक्त तुम्हारे पास जो शेष बचा है, वही परमोपदेश है।

(१३६) **चु. ना बोह ना देय ना द्यान,**

वहाँ न तू है, न मैं हूँ, न ध्येय है न ध्यान। सर्वक्रयी (सर्वकारक परब्रह्म) भी वहाँ खो जाते हैं। अन्धों को तो वहाँ कुछ नहीं दिखता किन्तु सहज गुणियों को परमशिव के दर्शन हो जाते हैं।

(१३७) **पानस ला'गिथ रूदुख में चु.**

तुम मेरे भीतर छिपे रहे और मैं तुम्हें दिन-रात (बाहर) ढूंढती रही। (जिस दिन) तुम्हें अपने भीतर छिपा पाया (उस दिन से) मुझे अभिन्नत्व का बोध हो गया और मैं आनंदमग्न होकर झूम उठी।

(१३८) **च्यथ नोवुय च'दुरसु नोवुय,**

चित्त नया और चन्द्रमा भी नया। भीतर की जलमय प्रकृति को भी नित्य नया ही देखा। जब से 'लल' ने तन-मन को माँजा तब से लल भी नयी की नयी।

(१३९) **यियि करम को'रम सु अरचुन,**

मैंने जो-जो कर्म किए वही मेरी अर्चना है, जो रसना (जीभ) से उच्चारित किया वही मेरे मंत्र हैं। देह से यदि कोई काम लिया तो वह था परिचय-प्रत्यभिज्ञा (यह ज्ञान कि परमेश्वर और जीवात्मा एक हैं); और वास्तव में, परम-शिव के तंत्र का सार भी यही है।

ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-सूची

(१) तारीखे रशीदी (१५४६-५१) मिर्ज़ा हैदर

(२) बहारिस्ताने शाही (१६१४) अज्ञात

(३) तारीखे कश्मीरी (१६१७-१८) मलिक हैदर

(४) अस्त्रार-उल-अब्रार (१६५४) बाबा दाऊद मिशकाटी

(५) मुन्तख़िब-उल-तवारीख (१७१०) नारायन कौल आजिज

(६) नवादिरे अखबार (१७२३) रफी-उल-दीन गाफ़िल

(७) वाकियाते कश्मीर (१७३५-३६) ख्वाजा मुहम्मद आज़म द्यदमरी

(८) गौहरे-आलम (१७८५-८६) मुहम्मद असलम मुनामी-अबुल-कासिम

(९) तारीखे शायिक़ (१७५०-८०) अब्दुल वाहब शायिक

(१०) मजमूअ-अल-तवारीख (१८३५-३६) वीरवल काचरू

(११) तारीखे कश्मीर (१८७१-७२) ख़लील मीरजानपूरी

(१२) तारीखे हसन (१८८५) पीर गुलाम हसन खुयिहोम

(१३) तारीखे कबीर (१९०९-१०) हाजी मोहीउद्दीन मिस्कीन

अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थ

(संकेताक्षर)

(१) ए. ए. ए. "कश्मीरी ज़बान और शायरी" अवदुल अहद आज़ाद

(२) ए. के. "ललयोगेश्वरी" आनंद कौल

(३) ए. के. आर. "कोशिरि अदबुच तारीख" अवतार कृष्ण रहबबर

(४) बी. बी. एल "बीबी ललारिफा" (संपादक) हाफिज़ मुहम्मद इनायत

(५) डी. आर. "द डॉक्ट्रिन ऑफ रिकॉगनिशन" डॉ० आर. के. काव

(६) डी. आर. ए. जे. "द्वितीय राजतरंगिणी" ज़ोनराज संपादक पंडित श्रीकंठ

(७) डी. वी. "डॉटर्स ऑफ़ वितस्ता" प्रेमनाथ बज़ाज़

(८) जी. एन. आर. "लल-वाक्य" गोपीनाथ रैना

(९) जे. एल. के. जे. "लल वाख" जे. एल. कौल जलाली

(१०) के. एल. ए. "कलामे ललारिफा" संपादक काज़ी निज़ाम-उद्-दीन

(११) के. एन. "डिक्शनरी ऑफ कश्मीरी प्रोव्बर्स" जे. हिण्टन नोल्ज़

(१२) के. एस. "कोशुर समाचार—ललद्यद अंक" १९७१

(१३) एल. डी. "ललद्यद" जे. एल. कौल व एन. एल. कौल.

(१४) एल. बी. "ललवाक्यनि" सर जार्ज ग्रियर्सन व डॉ०एल०डी० बरनेट

(१५) एल. बी. ए. "ललवाक्यानि का परिशिष्ट"

(१६) एल० वी० आर० वी० — "ललेश्वरी वाक्यानि" राजानक भास्कर

(१७) एम० एच० — "कश्मीर अंडर द सुलतानस" डॉ० मोहिब्बुल हसन

(१८) एन० एन० — "नूरनामा" संपादक अमीन कामिल

(१९) एन० आर० — "ए लाइफ़ ऑफ नुंदऋषि" आनंद कौल

(२०) पी० एन० के० बी० — "ए हिस्ट्री ऑफ कश्मीर" पी० एन० कौल वामज़ई।

(२१) पी० आर० — "प्रतिभिज्ञा हृदयम्" क्षेमराज

(२२) आर० वी० — "रहस्योपदेश" रूपभवानी

(२३) आर० सी० टी० — "द वर्ड आफ लला" सर रिचर्ड टेम्पल

(२४) आर० के० पी० — 'ए हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन कश्मीर' डॉ० आर० के० पारिमू

(२५) आर० पी० एल — "लाइब्रेरीं ऑफ द डारेक्टोरेट ऑफ पब्लिकेशनस, श्रीनगर"

(२६) एस० सी आर — "अरली हिस्ट्री एंड कल्चर इन कश्मीर" एस-सी रे

(२७) एस० एल० के० — "मदर लाल ऑफ कश्मीर" शंकरलाल कौल

(२८) स्टेन, एस० ए० — "राजतरंगिणी" खण्ड 1

(२९) सूफी, जी० एम० डी — "कशीर" २ खण्ड

(३०) डब्लू० सी० — "वाख ललेश्वरी" भाग 1 व 2 उर्दू संस्करण ए० के० वाँचू तथा अंग्रेज़ी संस्करण सर्वानंद चरागी



